46335

अष्टावक्र-जनक संवाद
(अष्टावक्र गीता)

www.tantrik-astrologer.in

सभा विसर्जित हो गई है। राजा जनक के आदेशानुसार उनके प्रधान पुरोहित अष्टावक्र और श्वेतकेतु को कहोड़ सहित विश्राम-स्थल पर ले जा रहे हैं। श्वेतकेतु को अब तक का घटनाक्रम एक अजूबा-सा लग रहा है। उसे विश्वास नहीं हो रहा है कि उसके जीजा अचानक प्रकट हो चुके हैं। वह बार-बार अपने तेजस्वी बहनोई को देख रहा है और अपनी बहन सुजाता को याद कर रहा है, जिसने अपने बहुमूल्य जीवन का एक बड़ा भाग अनायास ही वैधव्य में काट दिया।

कहोड़ ने समझ लिया है कि श्वेतकेतु किसी भारी सोच में पड़ा है। उसके सिर पर हाथ फेरते हुए वे पूछते हैं, "क्यों, क्या सोच रहे हो? क्या ऋषिवर उद्दालक की याद आ रही है?" फिर कहते हैं, "मेरी भी ऋषिवर से मिलने की तीव्र इच्छा है। हम लोगों को कल प्रातः अपने आश्रम के लिए प्रस्थान करना चाहिए। रास्ता बहुत लंबा है।"

"नहीं जीजाश्री, मैं तो अपनी दीदी सुजाता को याद कर रहा हूँ, जिन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा एक विधवा के रूप में काट दिया। वे आपको पाकर कितनी प्रसन्न होंगी! हमें शीघ्र, अतिशीघ्र यहाँ से प्रस्थान करना चाहिए। आते समय एक देवतुल्य राजकुमार की कृपा के कारण हमें जल्दी पहुँचने का सौभाग्य मिल गया था। पैदल का रास्ता तो बहुत लंबा है।"

अपनी प्रिय पत्नी की याद करके कहोड़ गंभीर हो गए हैं। सचमुच उस बेचारी ने अपने जीवन में सुख नहीं देखा। विवाह के तुरंत बाद गर्भावस्था में हुआ वह भयंकर हादसा, विकलांग पुत्र का जन्म और फिर असमय वैधव्य! अब वह बेचारी पुत्र-बिछोह सह रही होगी।

तीनों चुपचाप रास्ता तय कर रहे हैं। साथ चल रहे और तीनों का वार्तालाप सुन रहे राजपुरोहित उनके दुःख से दुखी हो गए हैं। वे कहते हैं, "हे विद्वत्तजनो, जहाँ एक ओर आपकी विद्वत्ता की पराकाष्ठा नहीं है वहीं आपके दुःखों की भी कोई सीमा नहीं है। वास्तव में आपको शीघ्र, अतिशीघ्र

घर लौट जाना चाहिए ताकि आपके चिंतित परिजनों को राहत मिल सके।

"परंतु हे महाज्ञानी अष्टावक्र! आपके आगमन के कारण ब्राह्मण-समाज को जो मुक्ति मिली है वह अभी भी अधूरी है। अभी राजा जनक के कारागार में बड़ी संख्या में ब्राह्मण बंदी हैं।" राजपुरोहित रहस्योद्घाटन करते हैं।

"अच्छा, तो वे लोग क्यों बंद हैं," कहोड़ पूछते हैं।

"हे महानुभाव, राजा जनक ने शास्त्रों में पढ़ लिया है कि आत्मज्ञान अत्यल्प समय में प्राप्त किया जा सकता है। इसके बाद उन्होंने एक प्रतियोगिता कराई कि जो ब्राह्मण एक निश्चित समय में उन्हें आत्मज्ञान से अवगत कराएगा उसे ढेर सारा धन पुरस्कार के रूप में दिया जाएगा और जो नहीं दे पाएगा उसे कारागार में बंद कर दिया जाएगा," राजपुरोहित बताते हैं।

"क्या उन्हें कोई ऐसा विद्वान् मिला जो उन्हें अत्यल्प समय में आत्मज्ञान से अवगत करा पाया और फिर यह अत्यल्प समय कितना निर्धारित हुआ है?" कहोड़ पुनः पूछते हैं।

"घोड़े पर चढ़ते समय एक पाँव पाँवड़े में रखने के बाद, दूसरा पाँव पाँवड़े में रखने में जो समय लगता है उतने समय में आत्मज्ञान देना निर्धारित किया गया है।" राजपुरोहित ने बताया।

"यह तो अत्यल्प समय है। इतने समय में आत्मज्ञान तो क्या किसी प्रकार का ज्ञान देना संभव नहीं है। शायद ही किसी विद्वान् ने प्रयास किया होगा," कहोड़ शंकित होकर कहते हैं।

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। धन के लालच में तमाम ब्राह्मण आए और वे सारे के सारे ब्राह्मण आज तक कारागार में बंद हैं," राजपुरोहित बताते हैं।

"कितने क्रूर हैं ये राजा जनक," श्वेतकेतु अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। उसे आशा है कि कहोड़ ऋषि उसका समर्थन करेंगे, पर आशा के विपरीत कहोड़ कहते हैं, "नहीं, ऐसा नहीं है। ब्राह्मणों में बढ़ते लालच पर अंकुश लगाने के लिए उन्होंने ऐसा किया होगा। राजा जनक के यहाँ ब्राह्मणों पर अत्याचार नहीं होता है।"

"तो भी हमें क्या, मुझे तो पिताजी और बहन की याद आ रही है। अतः हमें इस झंझट में न पड़कर आश्रम की ओर प्रस्थान करना चाहिए," श्वेतकेतु कहता है।

"पर पिताश्री! मैं राजा जनक को इतने अल्प समय में आत्मज्ञान दे सकता हूँ। आप मुझे इसकी अनुमति दें। यह कार्य कल ही संपन्न हो सकता है! मैं

www.tantrik-astrologer.in

चाहता हूँ कि मिथिला में कोई भी ब्राह्मण बंदीगृह में न रहे," अष्टावक्र निवेदन करते हैं।

"पर पुत्र, इतने अल्प समय में आत्मज्ञान देना संभव नहीं है। तुम उलझन में पड़ सकते हो। हे पुत्र, हालाँकि तुमने बंदी को परास्त करके एक महान् कार्य किया है और अपार यश पाया है, पर यह कार्य असंभव जान पड़ता है। आत्मज्ञान एक जटिल विषय है।" कहोड़ पुत्र की बात का उत्तर देते हैं।

वे पुनः तर्क देते हैं, "हे पुत्र, कारागार में पड़े ब्राह्मण चिंता का विषय अवश्य हैं, पर उनके लिए इतना बड़ा खतरा मोल लेना उचित नहीं है। श्वेतकेतु ठीक कह रहा है कि तुम्हारी माता, जिसने अपने अब तक के जीवन में कष्ट ही कष्ट झेले हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता से कर रही होगी। उसे और प्रतीक्षा कराना उचित नहीं है।"

अष्टावक्र, जो अब तक बड़े शांत भाव से पिता के तर्कों को सुन रहे थे, अब एक के बाद एक उत्तर दे रहे हैं। वे कह रहे हैं, "हे पिताश्री, जितना समय राजा ने निर्धारित किया है, मैं उन्हें उससे कम समय में आत्मज्ञान से अवगत कराऊँगा। कारागार में पड़े ब्राह्मणों को छुड़ाना और इस प्रकार की परंपरा को बंद करना अत्यावश्यक है। अपनी माता से मिलने की मुझे भी शीघ्रता है, पर यह कार्य पूर्ण करके ही जाना उचित है। आप मुझ पर विश्वास करें।"

अपने पुत्र के तर्कों के आगे कहोड़ निरुत्तर हो गए हैं। वे कहते हैं, "जैसा ठीक समझो वैसा करो, मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है।"

पिता से अनुमति लेकर अष्टावक्र राजपुरोहित से निवेदन कर रहे हैं, "हे महानुभाव, कृपया राजा जनक से निवेदन करें कि मैं उन्हें उनके द्वारा निर्धारित समय में आत्मज्ञान देने के लिए इच्छुक हूँ। कल प्रातः मैं विद्वत्तसभा में मिलूँगा।"

वार्तालाप करते-करते सभी लोग विशेष अतिथिगृह में पहुँच गए हैं। वहाँ पहुँचकर सभी ने नित्यकर्म से निवृत्त होकर संध्यावंदन किया। इसके बाद उनके लिए अनेक व्यंजन सुंदर थालों में लाए गए।

पर उन्होंने अत्यल्प और सामान्य व्यंजन ही लिए और भोजन समाप्त करके आश्रम की घटनाओं की चर्चा करने लगे। राजमहल में हो रहे मनोरंजक कार्यक्रम के लिए निमंत्रण आया, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया और अगले दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

अष्टावक्र की असाधारण प्रतिभा और अब तक की सफलता ने कहोड़

और श्वेतकेतु को प्रभावित तो किया है, पर अष्टावक्र द्वारा आत्मज्ञान प्रदान करने जैसी जटिलतम चुनौती ले लेने से उन्हें चिंता हो रही है। वे डर रहे हैं कि कहीं आकाश से गिरकर खजूर में न अटक जाएँ। इस कारण वे अन्यमनस्क-से होकर बात कर रहे हैं।

अष्टावक्र ने स्थिति भाँपकर सभी से सोने का निवेदन किया। वे सभी रेशमी बिछौने वाले पलंग को छोड़कर भूमि पर सो गए। जहाँ अष्टावक्र को शीघ्र निद्रा आ गई वहीं श्वेतकेतु थोड़ी देर बाद सो गया। कहोड़ काफी देर तक अपने पुत्र का मुखमंडल देखता रहा। जिस चेहरे को देखकर बचपन में लोग डर गए थे और जिस चेहरे को देखकर कहोड़ आत्मग्लानि से भर उठता था, वही चेहरा आज कहोड़ को दमकता हुआ दिखाई दे रहा है। उसके गुणों ने विकलांगता को बुरी तरह परास्त कर दिया है। पूरे मिथिला में अष्टावक्र का यश व्याप्त है। आज अष्टावक्र का नाम लोग आदर के साथ ले रहे हैं।आज कोई यह नहीं सोचता है कि अष्टावक्र का नाम इसलिए पड़ा, क्योंकि उनके शरीर पर आठ वक्रताएँ हैं। यह सोचते-सोचते कहोड़ को भी निद्रा ने आ घेरा।

प्रातःकाल जलपान करके कहोड़, अष्टावक्र और श्वेतकेतु महाराजा जनक की राजसभा में पहुँचे। प्रारंभिक अभिवादन के पश्चात् अष्टावक्र राजा से पूछते हैं, "राजन्, क्या आपने आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इसी प्रकार की प्रतियोगिता आयोजित की थी?"

राजा उत्तर देते हैं, "हाँ, मैंने शास्त्रों में पढ़ा है कि आत्मज्ञान अत्यल्प समय में प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण मैंने विद्वानों को आमंत्रित किया था। पर हे विद्वान् अष्टावक्र, आप क्यों पूछ रहे हैं? क्या आप आत्मज्ञान देने में इच्छुक हैं?"

"हाँ, मैं आपके द्वारा निर्धारित समय में आत्मज्ञान दे सकता हूँ।" अष्टावक्र पूरे आत्मविश्वास से कहते हैं।

"पर हे विद्वान्, मैंने जो समय निर्धारित किया वह तो कुछ क्षण का समय है। क्या आप इतने अल्प समय में यह कार्य कर पाएँगे? क्या आपको मेरी शर्त का ज्ञान है?" राजा जनक ने शंका व्यक्त की। हालाँकि मन ही मन उन्हें आशा की किरण दिखाई दे रही है कि उन्हें चिरप्रतीक्षित आत्मज्ञान की प्राप्ति इस अल्पायु विद्वान् से हो जाएगी।

अष्टावक्र तत्काल शंका का निवारण करते हुए कहते हैं, "हे राजन्, इतने समय में मैं तीन लोगों को ज्ञान दे सकता हूँ और यह ज्ञान-दान उतना ही स्पष्ट

होगा, जितना स्पष्ट आपके द्वारा अपनी मुद्रिका किसी को देना होता है।"

राजा जनक एक पल को मौन हो गए। अष्टावक्र पुनः कहते हैं, "हे राजन्, विलंब न करें। मेरे पास समय कम है। मुझे अपने पिता के साथ अपनी माता के पास पहुँचना है। आप घोड़ा मँगवाइए।"

राजा के आदेशानुसार एक खुले स्थान में घोड़ा मँगवाया गया। राजा ने घोड़े पर चढ़ने के लिए एक पाँव पाँवड़े पर रखा और अष्टावक्र ने उपदेश देना प्रारंभ किया, "हे राजन्, अहंकार छोड़ो और अपना मन मुट्ठी में पकड़ो।"

राजा चकरा गए और पूछते हैं, "हे विद्वान् ब्राह्मण, अहंकार कैसे छोड़ा जाता है और मन मुट्ठी में कैसे पकड़ूँ?"

अष्टावक्र मुस्कराए और कहने लगे, "राजन्, आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिए अपने आप को सुपात्र बनाना पड़ता है। आपके अंदर अभी भी अहंकार है और मन नियंत्रण में नहीं है। आपकी स्थिति पर्वत-शिखर के समान है जो बारिश होने के तत्काल बाद सूख जाता है। कितनी भी ज्ञान-वृष्टि क्यों न हो, अहंकारी पुरुष कुछ भी ग्रहण करने में असमर्थ होता है।

"हे राजन्, आत्मज्ञान-प्राप्ति के पात्र अभी आप नहीं हैं और आपने निरपराध ब्राह्मणों को अपने अहंकारवश कारागार में डाल रखा है।" अष्टावक्र ने समझाया।

राजा जनक को अपनी भूल का अहसास होता है और सभी विद्वान् ब्राह्मण कारागार से छोड़ दिए जाते हैं। वे सभी अष्टावक्र के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

उधर राजा जनक के मन में बेचैनी बढ़ जाती है और वे अष्टावक्र जैसे महाज्ञानी से आत्मज्ञान-प्राप्ति का अवसर त्यागना नहीं चाहते हैं। वे पुनः निवेदन करते हैं और बार-बार स्पष्ट करते हैं कि मिथिला के किसी कारागार में कोई ब्राह्मण कैदी नहीं है।

अंततः अष्टावक्र ने देखा कि राजा जनक में तीव्र बुद्धि व प्रतिभा है। उनमें उच्च बोध और रहस्य को समझने की क्षमता भी है। सबसे बड़ी चीज तो यह है कि आत्मज्ञान की उत्कट इच्छा उनके अंदर है। उन्होंने कहा, "हे राजन्, पात्रता के लिए अहंकार से मुक्ति, पूर्ण समर्पण, शरीर और मन के भावों की मुक्ति, शास्त्र व अन्य प्रकार के ज्ञान से मुक्ति और सभी प्रकार के बाह्य उपादानों से मुक्ति आवश्यक है। इन सबका मुख्य कारण अहंकार है, जिसके छूटते ही व्यक्ति का आत्मा से उसी क्षण संपर्क हो जाता है। जरा भी विलंब

www.tantrik-astrologer.in

नहीं होता है। यदि देर लगती है तो इन सबके प्रति अपनी धारणा और दृष्टि बदलने में। यह दृष्टि-परिवर्तन बोध से ही संभव है।''

राजा जनक ने अष्टावक्र के सामने उसी समय समर्पण कर दिया और कहते हैं, ''यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार सब कुछ मैं आपको समर्पित करता हूँ। आप जैसा चाहें इसका उपयोग करें।''

समर्पण भाव आते ही अहंकार खो गया। राजा जनक पिघल गए, वाष्प बन गए, शून्य हो गए, स्थूल से संबंध छूट गया और सूक्ष्म में प्रवेश कर गए।

अल्पायु अष्टावक्र ने एक गुरु की भाँति पात्रता देखकर अपना संपूर्ण ज्ञान पात्र में उड़ेलना प्रारंभ कर दिया। इसके साथ ही प्रारंभ हुआ—अष्टावक्र और राजा जनक का ऐतिहासिक संवाद।

महाराजा जनक ने पूरी विनम्रता से एक शिष्य की भाँति प्रश्न किया, ''हे प्रभो, ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? मुक्ति कैसे होती है? वैराग्य कैसे प्राप्त होता है?''

अल्पायु महाज्ञानी अष्टावक्र ने एक गुरु की भाँति राजा जनक से कहा, ''हे प्रिय, यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे विष रूपी विषयों को त्याग दो। इससे तुम्हें सद्गुण ग्रहण करने लायक पात्रता प्राप्त होगी। अभी इस पात्र में विषय रूपी जहर विद्यमान है। यदि इस समय इसमें अमृत भी उड़ेला गया तो वह भी जहर बन जाएगा। एक बार इन विषयों को त्याग दोगे तो तुम्हारा अंतःकरण स्वच्छ हो जाएगा और फिर उस पात्र में क्षमा, सरलता, दया, संतोष और सत्य को डालो। इन अमृत रूपी गुणों को धारण करना आवश्यक है।''

पात्रता की आवश्यकता का वर्णन करने के बाद अष्टावक्र ने राजा जनक को अपने स्वरूप से परिचित कराया। उन्होंने कहा, ''हे जनक, तुम पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पंचतत्त्वों से बने हुए भौतिक शरीर नहीं हो। ये पंचतत्त्व अनित्य हैं और नष्ट हो जाएँगे। तुम इस पंचतत्त्वों से बने शरीर रूपी घर नहीं हो, वरन् इस घर के मालिक हो अर्थात् इसमें निवास करने वाले साक्षी चैतन्य हो।

''अतः तुम अपने शरीर के प्रति आसक्ति त्यागकर सीधे आत्मभाव में स्थित हो जाओ। तुम्हें तत्काल सुख, शांति और बंधनों से मुक्ति प्राप्त होगी।'' अष्टावक्र ने समझाया कि इस कार्य में विलंब उचित नहीं है और मनुष्य को एक झटके में ही इस सुख को प्राप्त कर लेना चाहिए।

www.tantrik-astrologer.in

ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य के बारे में समझाने के बाद अष्टावक्र ने कहा, ''हे जनक, तुम शरीर नहीं हो, वरन् आत्मा हो जो चैतन्य है, साक्षी है। आत्मा का कोई वर्ण नहीं होता है। अतः तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं हो। इसी प्रकार तुम किसी आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि का पालन नहीं कर रहे हो। तुम्हारा आँख, कान आदि इंद्रियों के विषयों से कोई संबंध नहीं है। यह जान सुखी हो जाओ।

''हे जनक, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख आदि से अब तुम मुक्त हो। आम आदमी अहंकारवश अपने आपको कर्ता या भोक्ता मानता है, पर यह उसकी भ्रांति है और तुम इस भ्रांति से मुक्त हो चुके हो।

''यह आत्मा ही परमात्मा है, यही ब्रह्म है। दोनों भिन्न नहीं हैं। एक ही हैं। अतः तुम भी वही ब्रह्म हो तथा यह समस्त सृष्टि भी उसी ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। तुम सबके द्रष्टा हो,'' अष्टावक्र ने बड़ी निर्भीकता से कहा, ''आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा मुक्त है और किसी बंधन में बँधी हुई नहीं है।''

अष्टावक्र ने कहा, ''हे जनक, अहंकार के वश में होकर यह मानना कि मैं कर्ता हूँ और मैं यह कर रहा हूँ, अपने आपको विशाल काले नाग द्वारा डसवाए जाने के बराबर है। तुम यह मानो कि मैं तो निमित्त मात्र हूँ या उपकरण हूँ और इस विश्वास रूपी अमृत को पीकर सुखी रहो। यह सृष्टि अपने विशिष्ट नियमों से चल रही है और परमात्मा ही एकमात्र कर्ता है।''

अष्टावक्र ने आगे कहा, ''हे जनक, तुम यह मानो कि मैं विशुद्ध बोध आत्मा हूँ, ऐसी निश्चय रूपी अग्नि से गहन अंधकार रूपी अज्ञान जलकर नष्ट हो जाएगा और इसके साथ ही तुम्हारा समस्त शोक भी नष्ट हो जाएगा और सुख की प्राप्ति होगी।''

अष्टावक्र ने आत्मा व सृष्टि के बीच के संबंध का वर्णन करते हुए कहा, ''आत्मा अरूप है, निराकार है और इस निराकार का साकार रूप यह सृष्टि है। मनुष्य के मन में जैसे भाव होते हैं यह संसार उसे वैसा ही दिखता है। किसी के मन में भूत बैठा होता है तो उसे घर में भी भूत दिखाई देता है। किसी को चाँदनी प्यारी लगती है तो बिरही को यह आग जैसी लगती है। किसी को रस्सी साँप जैसी दिखाई देती है। अज्ञानी संसार को रस्सी में सर्प के समान कल्पित मानते हैं। ज्ञान प्राप्त होने पर काल्पनिक भय चला जाता है, अतः हे जनक, अब तुम प्रसन्न हो जाओ।''

अष्टावक्र ने आगे मुक्ति की व्याख्या करते हुए कहा, "जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है। यदि तुम अपने आपको मुक्त मानोगे तो मुक्त हो। यदि अपने को बँधा मानोगे तो बँधे हुए हो। मुक्ति दरअसल ज्ञान का फल है।"

आत्मा के बारे में बताते हुए अष्टावक्र कहते हैं, "हे जनक, तुम आत्मा हो। आत्मा तुम्हें प्राप्त नहीं करनी है, वह तुम्हें प्राप्त है। आत्मा साक्षी है, वह व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चैतन्यस्वरूप है, क्रियारहित है, असंग है, इच्छारहित है, शांत है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है, भीतर भी और बाहर भी, उसी प्रकार आत्मा में भी कोई भिन्नता नहीं है। सिर्फ भ्रम के कारण यह संसारी जैसी अर्थात् बंधनग्रस्त नजर आती है।"

अष्टावक्र आगे कहते हैं, "हे जनक, यह अहंकार सत्य नहीं है। यह आभास रूप है और इस कारण मनुष्य अपने आपको जीव समझता है और आत्मा से भिन्न समझता है। साथ ही यह भ्रम भी होता है कि आत्मा अर्थात् परमात्मा दूर कहीं आसमान में है। आत्मा सर्वत्र है। तुम सिर्फ स्थिर, अचल, बोधस्वरूप अद्वैत आत्मा का विचार करो।

"हे पुत्र, तुम बहुत दिनों से पंचतत्त्वों से बने इस शरीर के अभिमान से बँधे हुए थे। अब यह मानकर कि तुम बोध मात्र हो, सुखी हो जाओ।

"हे जनक! तुम असंग, क्रियारहित, प्रकाशवान और निर्दोष हो। तुम्हारा बंधन सिर्फ इतना ही है कि तुम आत्मज्ञान के लिए समाधि लगाया करते हो। तुम इसे भी छोड़ दो, क्योंकि इससे मोक्षप्राप्ति की लालसा जुड़ी हुई है और जब तक लालसा है तब तक मोक्ष संभव नहीं है।

"हे जनक! यह संसार तुममें व्याप्त है क्योंकि तुम स्वयं आत्मा हो, ब्रह्म हो और यह संसार तुम्हारी अभिव्यक्ति मात्र है। समस्त पदार्थों का केंद्रीय तत्त्व आत्मा ही है जो सर्वव्याप्त है। इसीलिए सबमें एकसूत्रता है। अपने आपको शरीर मानना मूढ़ता है और मूढ़ व्यक्ति अपने को क्षुद्र चित्त, हीन अनुभव करते हैं। आत्मज्ञानी अपने को हीन नहीं समझते हैं।

"हे जनक! तुम अपेक्षारहित हो, क्योंकि अपेक्षा सिर्फ शरीर और मन की होती है। तुम विकाररहित हो। भूख और प्यास प्राणों के धर्म हैं। शोक और मोह मन के धर्म हैं। जन्म और मरण देह के धर्म हैं। आत्मा इनसे ऊपर है। आत्मा केवल द्रष्टा है, अतः निर्विकार है। देह के विपरीत यह स्वयं पर निर्भर है। तुम चूँकि आत्मस्वरूप हो चुके हो, अतः शांति और मुक्ति का स्थान बन चुके हो। तुम अगाध बुद्धि के सागर बन चुके हो। आत्मा में क्षोभ का कोई स्थान नहीं

है। आत्मा में पूर्ण निष्ठा होने से ही उसका ज्ञान होगा तथा और कोई विधि काम नहीं करेगी।

"हे जनक! यह स्थूल, जड़, सृष्टि आदि जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, यह मिथ्या है और निराकार चैतन्य ही निश्चल है। इस नित्य ब्रह्म में विश्वास करने वाले की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है।

"हे जनक! परमात्मा कोई व्यक्ति जैसा नहीं है, जो एक स्थान पर बैठकर सारी सृष्टि का सम्राट् की भाँति नियंत्रण करता है, बल्कि वह सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य के शरीर के अंदर और बाहर वह इस तरह व्याप्त है जैसे दर्पण अपने में प्रतिबिंबित रूप के भीतर और बाहर स्थित है।"

अष्टावक्र ने आगे और स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश घड़े के भीतर और बाहर दोनों जगह स्थित है, उसी प्रकार मनुष्य के भीतर स्थित ब्रह्म और बाहर स्थित ब्रह्म दोनों में कोई फर्क नहीं है। नित्य और निरंतर ब्रह्म सब भूतों में स्थित है।

अष्टावक्र ने जनक को विस्तार से समझाते हुए कहा, "हे जनक, आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्व हैं और इन्हें कहीं से पाना नहीं है, ये तो स्वयं प्राप्त हैं। ये अज्ञान के कारण विस्मृत हो गए हैं। इन्हें ज्ञान के द्वारा पुनः स्मृति में लाना है। ये ध्यान, योग, उपासना आदि आंतरिक स्वच्छता के लिए हैं और इनसे मनुष्य में उस परम शक्ति को झेलने की क्षमता आती है।"

अष्टावक्र ने उनका महत्त्व भी समझाया और कहा कि अगर कोई व्यक्ति बिना तैयारी के यह मान ले कि मैं परमात्मा हूँ तो वह इसे झेल नहीं पाएगा। आत्मज्ञान के पश्चात् संसार-संबंधी सभी मान्यताएँ और धारणाएँ टूटकर बिखर जाती हैं।

अष्टावक्र के उपदेश का पहला चरण इस कदर प्रभावी था कि सुनते सुनते ही जनक को आत्मबोध हो गया और अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया।

निश्चय ही अब तक ज्ञान की खोज में लगातार प्रयत्नशील जनक में पात्रता पूर्ण थी। उन्होंने कहा कि मैं निर्दोष हूँ। आत्मा की तरह शांत हूँ। स्वयं बोध हूँ। प्रकृति से परे हूँ। इतने समय तक मोह के द्वारा ठगा गया हूँ। अब तक का मायाजाल केवल अहंकार के कारण था जो ज्ञानरूपी अग्नि में जलकर भस्म हो गया है।

जिस प्रकार मैं अपने शरीर को प्रकाशित करता हूँ। उसी प्रकार संपूर्ण जगत् भी मेरे प्रकाश से प्रकाशित है। यह संपूर्ण संसार मेरा ही स्वरूप है या

www.tantrik-astrologer.in

यह कहें कि मेरा कुछ भी नहीं है। राजा जनक को अचानक इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर आश्चर्य हो रहा है। अपने गुरु अष्टावक्र की कुशलता से वे परमात्मा को भी देख पा रहे हैं। इसके साथ ही उन्हें अपने शरीर सहित पूरे विश्व से विरक्ति हो चुकी है। उन्हें लग रहा है कि जो कुछ भी है वह ईश्वर का है और इसका त्याग पूर्वक भोग करना है!

"जिस प्रकार जल से तरंग, फेन और बुलबुला अलग नहीं हैं, उसी प्रकार संसार आत्मा से अलग नहीं है। यह आत्मा फैलाव मात्र है। जिस प्रकार वस्त्र जैसा दिखाई देता है वैसा नहीं होता है। वह तो तंतुओं से बना है। मूल तंतु है जो वस्त्र का कारण बना। उसी प्रकार आत्मारूपी तंतु से यह विश्व बना है। यह आत्मा से भिन्न नहीं हो सकता है। जिस प्रकार ईख से बनी शर्करा ईख के रस में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा से बना संसार आत्मा में भी व्याप्त है।"

राजा जनक को आत्मज्ञान होने के बाद सारी सृष्टि आत्मवत् दिखाई देने लगी है। अब वे कहते हैं कि जब तक आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक संसार भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। यह लगभग उसी प्रकार है जैसे अज्ञानवश रस्सी साँप जैसी लगती है। एक बार जब आदमी देख लेता है कि यह रस्सी है, साँप नहीं, तब भ्रम टूट जाता है। दरअसल राजा जनक ने दोनों ही स्थितियाँ देखी हैं। इसलिए वे इस बात को और दृढ़तापूर्वक कह पा रहे हैं। वे अपने आत्मज्ञान को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैं आत्मस्वरूप हूँ और आत्मा के सारे गुण मेरे ही गुण हैं। आत्मा स्वयं प्रकाश है और इसे अन्य प्रकार के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। सांसारिक वस्तुओं में जो प्रकाश दिखाई देता है वह भी आत्मा का ही प्रकाश है। ज्ञान प्राप्त करते हुए जनक तीव्र प्रकाश का अनुभव कर रहे थे।

अज्ञान की स्थिति में जनक को संसार ऐसा लगता था जैसा सीपी में चाँदी, रस्सी में साँप और सूर्य की रोशनी में जल दिखाई देता है।

आत्मज्ञान प्राप्त होते ही जनक को लग रहा है कि आत्मतत्त्व (ब्रह्म) वह मूल तत्त्व है जिससे सारा संसार पैदा हुआ था। सृष्टि के आरंभ में यह मूल तत्त्व निराकार, अव्यक्त, असंभूत अवस्था में था। संकल्प से इसकी चेतना में तरंग उठी और वही चेतना सृष्टिरूप में विकसित होती चली गई। अंत में यह पुन: अपने मूल स्वरूप—जो अव्यक्त है—में आ जाएगी। यह सब उसी प्रकार होगा, जैसे घड़ा टूटकर फिर मिट्टी हो जाता है। उठी हुई लहर फिर समुद्र में मिल जाती है। सोने के आभूषण गलकर पुन: सोने में तब्दील हो जाते हैं।

राजा जनक आत्मतत्त्व की विशेषता बताते हुए आगे कहते हैं, "आत्मा अर्थात् मैं आश्चर्यमय हूँ। मैं संपूर्ण सत्ता का आधार हूँ तो और किसी को कैसे नमस्कार करूँ? जब इस जगत् के तिनके-तिनके का भी नाश हो जाएगा तो भी मेरा नाश नहीं होगा।

"मैं देहधारी होते हुए भी अद्वैत हूँ। जिस प्रकार सभी कुओं में जल भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है पर वे सभी एक ही जलस्रोत महासागर से आते हैं, इसीलिए अज्ञानी आत्मा को सभी देहों में अलग-अलग मानते हैं। मैं न कहीं आता हूँ, न जाता हूँ। पूरे संसार में व्याप्त हूँ।

"आत्मतत्त्व बड़ा निपुण है। यह असंग होते हुए भी बिना किसी शरीर को स्पर्श किए इस विश्व को सदा धारण किए है। यह आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह स्वयं कर्ता नहीं होते हुए भी उसके गुणों से स्वाभाविक क्रिया अपने आप हो रही है। यह इसी प्रकार है जैसे चुंबक लोहे को प्रयत्न करके नहीं खींचता है। सूर्य अपनी इच्छा से ताप और प्रकाश नहीं फैलाता है। ये सब उनके स्वाभाविक गुण हैं, जिनसे सब क्रियाएँ होती हैं।"

राजा जनक अपने आपको आत्मरूप मानते हुए कहते हैं कि मेरा कुछ भी नहीं है। आत्मा ने किसी को अधिकृत नहीं किया है। वह कर्ता और भोक्ता से मुक्त है। दूसरी ओर सारी सृष्टि आत्मा का खेल है अर्थात् सब कुछ मेरा है। आत्मा इस भोगमय शरीर में रहते हुए भी निर्लिप्त है। ऐसी महान् आत्मा को नमस्कार है।

जो जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं। जिसे जाना जाता है वह ज्ञेय कहलाता है और जो जानने वाला है वह ज्ञाता कहलाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद जनक को लगा कि मैं अब ज्ञानस्वरूप हूँ। अब ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। जब तक अज्ञान होता है तभी तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय प्रतीत होते हैं। आत्मा तो निर्दोष होती है।

आत्मज्ञान होते ही राजा जनक को अद्वैत की अनुभूति हो गई। द्वैत मिट गया। सारी भिन्नताएँ समाप्त होकर एकत्व का बोध हो गया। इसके बाद उन्हें लगा कि संसार के सभी दु:खों का कारण द्वैत है और द्वैत का कारण है अहंकार, जिससे व्यक्ति अपने आपको अन्य प्राणियों और परमात्मा से भिन्न समझता है। इससे लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि बीमारियाँ पैदा होती हैं। इनकी कोई औषधि नहीं है। मंदिर जाना, तिलक लगाना, पूजा-पाठ, यज्ञ, व्रत, उपासना आदि क्रियाएँ मनुष्य के अहंकार को बढ़ाती हैं और मिथ्या हैं। परमात्मा तो

www.tantrik-astrologer.in

मनुष्य के अंदर ही है और अज्ञान की धूल के हटते ही दिखाई देता है। राजा जनक को ज्ञानप्राप्ति के बाद लगा कि वे शुद्ध चैतन्य रस हैं।

उन्होंने कहा कि वे आत्मा होने से शुद्ध बोध मात्र हैं। अभी तक अज्ञानता के कारण उपाधि की कल्पना उन्होंने की थी। अब ज्ञानप्राप्ति के बाद मुझे लगता है कि मैं एक हूँ। यह सृष्टि मुझसे भिन्न नहीं है। इसके अलावा कोई विकल्प भी मेरे पास नहीं है।

अज्ञानतावश मुझे लग रहा था कि यह संसार मुझमें स्थित है, जबकि यह सत्य नहीं है। यह संसार मिथ्या है और बंधन भी मिथ्या है। जब बंधन मिथ्या है तो मोक्ष भी मिथ्या है। अब मैं आश्रयरहित हो गया हूँ और मेरी भ्रांति शांत हो गई है।

वास्तव में यह शरीरयुक्त विश्व मिथ्या है और इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा ही वास्तविकता है।

जनक जी आगे कहते हैं कि यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष व भय आदि कल्पना मात्र ही हैं। जिसने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है उसके लिए यह सब कल्पना मात्र है।

नई दृष्टि मिलने के बाद राजा जनक को उपस्थित भीड़ में द्वैत दिखाई नहीं देता। वे सबको एक-सा देख पा रहे हैं। उन्हें सब कुछ जंगल-सा दिखाई दे रहा है और किसी विशेष व्यक्ति से प्रेम करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता है।

आत्मज्ञान की ऊँचाई को प्राप्त कर चुके राजा जनक को ज्ञान हो गया कि वे न तो शरीर हैं और न ही यह शरीर उनका है। वे चैतन्य मात्र हैं। अब तक उनके सामने बंधन यह था कि उन्हें दीर्घ जीवन की इच्छा थी। अब इच्छाओं के छूट जाने के कारण जीवन निराकांक्षी होकर चलेगा।

राजा जनक आगे कहते हैं कि यह सृष्टि आत्मारूपी समुद्र में उठी हुई विचित्र तरंगें हैं जो चित्तरूपी वायु के झोंके से उठती हैं अर्थात् यह आत्मा या ब्रह्म अनंत समुद्र के समान है जिसकी कोई सीमा नहीं है। चित्तरूपी वायु के झोंकों से विभिन्न वासनाओं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा आदि रूपी तरंगें इसमें उठती हैं, पर ये तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं हैं।

अगर चित्तरूपी वायु का चलना बंद हो जाए तो ये वासनारूपी लहरें उठेंगी ही नहीं और तरंगरूपी संसार विलुप्त हो जाएगा। जीव का संसार के साथ जो व्यापार है वह बंद हो जाएगा, क्योंकि जीव का मुख्य आधार संसार है जो

www.tantrik-astrologer.in

भोग, तृष्णा और वासना से परिपूर्ण है।

राजा जनक ज्ञान की अनुभूति करते हुए कहते हैं कि अब मैं सीमित जीव नहीं हूँ। वास्तविक स्वरूप में आने के बाद अब मैं अनंत महासागर के समान हूँ। इसमें जीवरूपी तरंगें उठती हैं, परस्पर संघर्ष करती हैं और स्वभाव से ही विलय हो जाती हैं।

दरअसल राजा जनक ने स्वीकार किया कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद भी चित्त के चंचल स्वभाव के कारण तरंगें तो फिर भी उठती हैं, पर अब वे मुझे प्रभावित नहीं कर पाती हैं। पहले वे मुझ पर शासन करती थीं, पर अब मैं उन पर शासन करता हूँ। अब वे तटस्थ भाव से सागर के किनारे बैठकर सारा खेल देख रहे हैं। संसार ज्यों का त्यों है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता है। ज्ञानी को चूँकि वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है, अतः उसका नजरिया बदल जाता है।

राजा जनक के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण क्षण था। इस प्रकार की घटना धीरे-धीरे नहीं घटती है वरन् अचानक एक ही क्षण में घट जाती है। इस समय यदि व्यक्ति की पूर्व तैयारी न हो तो वह इस परिवर्तन को झेलने में अत्यंत कठिनाई महसूस करेगा। वह विक्षिप्त भी हो सकता है और कोई भी अनहोनी घट सकती है। ऐसे में गुरु की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

दरअसल राजा जनक को विराट् का अनुभव हुआ, जिसने उनके शरीर, मन, इंद्रियों, अहंकार आदि को बुरी तरह झकझोर दिया। चूँकि यह घटना जनक-अष्टावक्र की बातचीत के दौरान घटी, अतः जनक को इसका वेग झेलना आसान लगा।

अष्टावक्र की आयु तो कम है, पर वे एक महान् अनुभवी गुरु की तरह अपना दायित्व निभा रहे हैं। वे जानते हैं कि अगर कच्चा और अपूर्ण ज्ञान दिया गया तो शिष्य को लाभ के बजाय हानि हो सकती है और समाज में शिक्षा का गलत उदाहरण जन्म ले सकता है। अतः वे अब तक दिए गए ज्ञान की परीक्षा लेने हेतु तत्पर होते हैं।

वे परीक्षक के रूप में पहला प्रश्न करते हैं कि हे जनक, अब तुम जान चुके हो कि आत्मा मूलतः एक है और अविनाशी है, पर फिर भी तुम जैसे आत्मज्ञानी को धन कमाने की इच्छा क्यों है? दरअसल राजा जनक आत्मज्ञान के बाद भी राजसी वस्त्र धारण किए हुए हैं। अष्टावक्र को चिंता है कि जनक के चित्त में कहीं इन भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति तो नहीं है?

अष्टावक्र अपने शिष्य के प्रति चिंतित हैं। उन्हें लग रहा है कि आत्मा के अज्ञान के कारण ही विषयों के प्रति वैसे ही प्रेम विकसित होता है, जैसे सीपी चाँदी जैसी लगती है और मनुष्य उसके प्रति लालायित होता है। यह विश्व उस अथाह समुद्ररूपी आत्मा में उठने वाली तरंगों के समान छोटा है। यह न तो नित्य है और न ही इसका कोई पृथक् अस्तित्व है। जब तुम यह सब जान चुके हो तो फिर इन छोटी-मोटी वस्तुओं के पीछे क्यों दौड़ रहे हो?

अष्टावक्र अपने शिष्य के आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर सुखद आश्चर्य भी व्यक्त कर रहे हैं और वे पूछते हैं, जब तुमने आत्मा को शुद्ध चैतन्य और अति सुंदर जान लिया है तब इंद्रियों के विषय के प्रति आसक्त होकर मलिनता को क्यों धारण कर रहे हो?

अष्टावक्र जनक को अपनी कसौटी पर कसकर जानने का यत्न कर रहे हैं कि वास्तव में उन्हें सही आत्मज्ञान हुआ है या नहीं। वे पूछते हैं कि हे जनक, तुमने सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जान लिया है। संसार और आत्मा में अभेद संबंध जानकर भी तुम्हें ममता क्यों हो रही है?

आत्मज्ञान से सृष्टि एवं आत्मा का भेद मिट जाता है, पर इससे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। इस स्थिति में विकल्प बना रहता है और सभी संस्कार, मन-बुद्धि, चित्त आदि बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। इसके बाद ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में प्रवेश कर जाता है और यह बीज भी मिट जाता है। अष्टावक्र जनक की स्थिति का आकलन करके कहते हैं कि हे जनक, अब तुम मोक्ष के लिए तैयार हो चुके हो। ऐसी स्थिति में काम-क्रीड़ा के अभ्यास के लिए क्यों व्याकुल हो?

वासनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, पर कामवासना सबसे तीव्र होती है। इसे छोड़ना कठिन होता है। काम ज्ञान का परम शत्रु होता है। अत: अष्टावक्र जानना चाहते हैं कि अगर जनक के मन में काम-भोग की कामना शेष है तो उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है।

वे आगे प्रश्न करते हैं कि हे जनक, आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद तुम इस संसार और स्वर्ग आदि के भोग से विरक्त हो चुके हो। अब तुम्हारा अगला लक्ष्य मुक्ति है। अब तुम्हारे मोक्ष से भय का क्या कारण है?

आत्मज्ञानी को संसार में रहते हुए अनेक आवश्यक कर्म करने पड़ते हैं और अनेक कर्मों का परिणाम भी भोगना पड़ता है। उन्हें अनेक प्रकार के सम्मान भी मिलते हैं। आत्मज्ञानी पीड़ा और सम्मान दोनों को प्राप्त करते हुए

न प्रसन्नता की अनुभूति करता है और न ही क्रोध करता है। यदि किसी व्यक्ति में ये भाव आ रहे हैं तो उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, इसमें संदेह है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि आत्मज्ञान के पश्चात् यह शरीर आत्मा से भिन्न लगने लगता है। ज्ञानी आत्मा को ही अपना स्वरूप मानता है, शरीर को नहीं। उसका शरीर चेष्टारत रहता है और इस कारण उसे स्तुति और निंदा दोनों प्राप्त होती हैं, पर ज्ञानी को इससे क्षोभ नहीं होता है। यदि किसी व्यक्ति में क्षोभ के लक्षण दिखाई दें तो इसका सीधा अर्थ है कि उसे अभी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है।

ज्ञानी व्यक्ति संसार को माया अर्थात् भ्रम समझता है। संसारी व्यक्ति मृत्यु से डरते हैं और सोचते हैं कि मरने के बाद कौन-सी योनि मिलेगी और स्वर्ग-नरक में क्या-क्या सुख-दु:ख भोगना पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति शरीर से आसक्ति रखता है और मृत्यु से डरता है तो उसके ज्ञान प्राप्त करने में संदेह है।

ज्ञानी व्यक्ति इस संसार में न कुछ त्यागने योग्य समझता है और न ही ग्रहण करने योग्य। भोग और त्याग अहंकार के ही कृत्य हैं और ज्ञानी के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं है।

अष्टावक्र राजा जनक से आगे प्रश्न करते हैं कि हे जनक, तुम आत्मज्ञानी हो। तुम्हारे अंत:करण का विषय-वासनाओं संबंधी सारा मैल धुल चुका है। तुम द्वंद्वरहित और आशारहित हो चुके हो। तुम्हें दैव योग से प्राप्त भोगों को ईश्वर का वरदान समझकर भोग करना चाहिए, पर इनमें सुख या दु:ख की अनुभूति नहीं करनी चाहिए। यदि सुख या दु:ख की अनुभूति होती है तो यह साबित होता है कि मन अभी जीवित है और आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है।

इस प्रकार अष्टावक्र ने अपने प्रिय शिष्य राजा जनक के आत्मज्ञान-प्राप्ति की कड़ी परीक्षा लगातार सटीक प्रश्न पूछकर ली।

दूसरी ओर अष्टावक्र जैसे महान् गुरु से ज्ञान प्राप्त करने वाले राजा जनक का आत्मविश्वास चरम सीमा पर पहुँच गया है। वे अष्टावक्र की शंकाओं का उत्तर शीघ्र और न्यूनतम शब्दों में देने के लिए तत्पर होते हैं।

वे कहते हैं, "हे हंत, आत्मज्ञानी के अंदर अहंकार नहीं होता है और वह कर्तापन से मुक्त हो जाता है। वह स्वाभाविक और विवेकपूर्ण तरीके से कर्म करता है। वहीं दूसरी ओर मूढ़ पुरुष भोग की अभिलाषा से काम करते हैं। इन दोनों के कामों में समानता दिखाई देती है, पर वास्तव में बहुत अंतर होता है।

"इंद्र आदि देवतागण भी इच्छा के वश होकर अपने आपको बचाने के

www.tantrik-astrologer.in

लिए अकसर गिड़गिड़ाते हुए घूमते हैं, वहीं दूसरी ओर योगी व्यक्ति महत्त्वपूर्ण पद पाकर भी हर्षित नहीं होते हैं। इस प्रकार का पद पा लेने पर भी इस व्यक्ति का अंतःकरण निर्मल रहता है और वह पुण्य और पाप के स्पर्श से दूर रहता है। यह लगभग वैसे ही होता है जैसे देखने में लगता है कि धुआँ ऊपर उठकर आकाश से मिल रहा है, पर वास्तव में आकाश का धुएँ से स्पर्श नहीं होता है।

"जिस महात्मा ने इस संपूर्ण जगत् को आत्मा के तुल्य जान लिया है वह पाप-पुण्य से परे हो जाता है। वह सभी सामाजिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, शास्त्रीय बंधनों से मुक्त होकर ईश्वरीय नियमों के अनुसार कार्य करता है। उसके समस्त कार्य और व्यवहार स्व-विवेक पर आधारित होते हैं।

"ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सभी जीव-जंतुओं में इच्छाओं और अनिच्छाओं को रोकने में असमर्थता होती है। सृष्टि-निर्माता ब्रह्मा भी इच्छाओं से ग्रस्त हैं और सृष्टि-निर्माण उनकी एक इच्छा है। सिर्फ आत्मज्ञानी ही इच्छा और अनिच्छा पर रोक लगा सकता है। ज्ञानी अपने विवेक के अनुसार ही करते हैं कि क्या पाना है और क्या छोड़ना है।

"इस संसार में कोई बिरला ही मान पाता है कि आत्मा एक है और संपूर्ण सृष्टि उसी का फैलाव है। यही आत्मा जगदीश्वर है। सृष्टि और स्रष्टा में कोई अंतर नहीं है। ऐसा ज्ञानी किसी के भय से या अधीन होकर काम नहीं करता है।" इस प्रकार राजा जनक ने एक योग्य शिष्य की भाँति गुरु द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर सार-संक्षेप में दे दिया।

www.tantrik-astrologer.in

गुरु अष्टावक्र को अपने शिष्य के उत्तर सुनकर विश्वास हो गया है कि इसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है। जनक के उत्तर उन अनुभवों पर आधारित थे, जो एक आत्मज्ञानी को ही प्राप्त होते हैं। अब वे जनक को मोक्ष का उपदेश देने के लिए तत्पर होते हैं।

वे कहते हैं, "हे जनक, तुम यह जान चुके हो कि तुम एक शुद्ध चैतन्य आत्मा हो। तुम्हारे साथ कोई नहीं है, पर तुम किसे त्यागना चाहते हो? आम आदमी देहाभिमान के कारण सांसारिक वस्तुओं को अपना मानता है। जब यह देहाभिमान की भ्रांति मिट जाती है तब मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है।

"हे जनक, आत्मा एक समुद्र के समान है और यह संसार उससे उठे एक बुलबुले के तुल्य है। यह संसार तुच्छ आत्मा से भिन्न नहीं है। समस्त सृष्टि एक है और इस प्रकार के एकत्व-भाव को ग्रहण करके तुम मोक्ष को प्राप्त हो।

"यह दिखाई देने वाला संसार तुम्हारे सामने है, पर तुम जैसे शुद्ध चैतन्य आत्मज्ञानी के लिए सत्य नहीं है और इस रस्सी को साँप मानकर तुम इसकी परवाह न करो। तुम्हारे लिए एकमात्र आत्मा ही सत्य है और ऐसा मानकर तुम मोक्ष को प्राप्त करो।

"हे जनक, अब तुमने जान लिया है कि यह आत्मा पूर्ण है। तुम सुख-दुःख, आशा-निराशा, जीवन-मृत्यु को समान रूप से देख पा रहे हो। इनसे न तो तुम्हें प्रसन्नता हो रही है और न ही दुःख। ऐसा स्थितप्रज्ञ होकर तुम मोक्ष को प्राप्त हो।"

इस प्रकार गुरु अष्टावक्र ने अपने शिष्य को समझा दिया कि चार धारणाएँ —देहाभिमान का त्याग, अद्वैत आत्मा का बोध, जगत् की भ्रांति का त्याग और द्वंद्वों में समत्व बुद्धि का होना—आत्मज्ञानी की मुक्ति का कारण बनती हैं।

अब तक गुरु अष्टावक्र आश्वस्त हो चुके हैं। उन्हें पता चल गया है कि उनके शिष्य को आत्मज्ञान-प्राप्ति हो चुकी है। हाँ, इन्हें इस बात पर अवश्य संदेह था कि जनक को मोक्ष की चाहत है कि नहीं। यदि चाहत है तो इससे स्पष्ट है कि अभी मोक्ष हुआ ही नहीं। क्योंकि मोक्ष तो तभी होता है जब न कुछ पाने को होता है और न कुछ खोने को, न किसी चीज की चाहत होती है और न ही किसी चीज को छोड़ने का मन होता है। उसे न तो संसार की इच्छा होती है और न ही मुक्ति की कामना होती है। इस स्थिति में व्यक्ति शुद्ध चैतन्य मात्र रह जाता है।

अतः अष्टावक्र की शंका के निवारण हेतु जनक उत्तर देते हैं, "मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ। आकाश की भाँति अनंत। यह संसार घड़े की भाँति प्रकृति से बना है। जब यह संपूर्ण सृष्टि एक ही आत्मतत्त्व है तब इसे कैसे त्यागा जा सकता है! इसे ग्रहण भी नहीं किया जा सकता है। इसे दूसरे में विलीन भी नहीं किया जा सकता है।

"मैं समुद्र के समान हूँ और यह संसार तरंगों और लहरों के समान है। अतः इस संसार को न तो ग्रहण किया जा सकता है और न ही त्यागा जा सकता है। जब दोनों एक ही हैं तो विलीन करने का तो सवाल ही नहीं होता।

"मैं अर्थात् आत्मा किसी सीपी के समान हूँ और यह संसार सीपी में चाँदी के भ्रम के समान है। यह भ्रम न तो त्यागने योग्य है और न ही ग्रहण करने योग्य है।

"वास्तविक ज्ञान यह है कि मैं सभी भूतों में स्थित हूँ और ये सभी भूत मुझमें हैं। अतः जब दोनों एक ही हैं तो त्याग, ग्रहण, विलय आदि बेमानी है।"

राजा जनक आगे कहते हैं कि आत्मारूपी महासमुद्र में विश्वरूपी नाव सहज ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है। मेरे ज्ञानी होने से विश्व की गति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। पहले मैं इसमें लिप्त था, पर अब सिर्फ द्रष्टा हूँ और किसी प्रकार की अशांति मेरे अंदर नहीं है। मेरे अंदर सहिष्णुता विकसित हो गई है।

महासमुद्र में अनेक लहरें उठती हैं और शांत हो जाती हैं। इससे समुद्र की कोई वृद्धि या हानि नहीं होती है। इसी तरह सांसारिक बातों से मुझ पर कोई असर नहीं पड़ता है।

मुझ आत्मारूपी समुद्र में यह संसार कल्पनामात्र है। इस अस्तित्वहीन संसार से मैं कतई प्रभावित नहीं हूँ। जब तक मैं इस कल्पना को वास्तविकता समझता था तब तक मेरा मन अशांत रहता था। अब आत्मा को निराकार समझकर शांत हूँ।

राजा जनक आगे कहते हैं कि शरीर के साथ इंद्रियाँ और मन हैं। यह मन सदैव विषयों की ओर आकर्षित होता है। मैं इनसे परे आत्मस्वरूप हूँ। इस आत्मा का विषयों से कोई संबंध नहीं है। मैं अनासक्त और स्पृहामुक्त हूँ।

राजा जनक के अनुसार–"मुझ आत्मस्वरूप को यह संसार इंद्रजाल की भाँति लगता है। अब मेरे लिए देय-उपादेय, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ आदि बेमानी हो गए।"

गुरु अष्टावक्र को अब संतुष्टि हो चुकी है कि राजा जनक को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका है। अब तक की परीक्षाओं में खरे उतरे शिष्य जनक को अब वे बंधन और मुक्ति की व्याख्या करके बतलाते हैं। वे कहते हैं, "जब मन कुछ चाहता है, कुछ सोचता है, कुछ त्याग करता है, कुछ ग्रहण करता है, सुखी या दुखी होता है तब उस मनुष्य की स्थिति बंधन की होती है।

"जब मन न चाहता है, न सोचता है, न त्याग करता है और न ही प्राप्त करता है, न सुखी या दुखी होता है तब वह मनुष्य मुक्ति की अवस्था में होता है।" अष्टावक्र ने समझा दिया कि मोक्ष की चाह करना, मोक्ष की चाहत में संसार को छोड़ना मोक्ष का मार्ग नहीं है वरन् वह भी कामना का दूसरा रूप है।

जब मन किसी विषय में लगा हो तब बंधन है और जब मन सब विषयों से अनासक्त हो तब मोक्ष है। अष्टावक्र अहंकार को बंधन का कारण बताते हुए आगे कहते हैं, "जब तक मनुष्य के अंदर मैं है तब तक बंधन है और जब वह मैं से मुक्त हो जाता है तब वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।" इस प्रकार का

www.tantrik-astrologer.in

विचार करने की राय देते हुए वे जनक से कहते हैं कि तुम्हें न तो इच्छा करने की आवश्यकता है और न ही कुछ त्याग या ग्रहण करने की।

इस प्रकार अष्टावक्र ने अपने शिष्य जनक को उपदेश दिया कि तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति के लिए न तो अपना घर, परिवार, राज्य आदि के त्याग की आवश्यकता है और न ही संन्यासी की तरह गेरुआ वस्त्र धारण करने की आवश्यकता है। सिर्फ अहंकार को त्यागकर निर्विकार भाव से कर्म करते रहना चाहिए।

अष्टावक्र आगे बताते हैं कि जो कर्म किए जा चुके हैं वे वासना और अहंकार से किए गए हैं, अत: उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। जो कर्म अभी नहीं किए गए हैं वे भी बंधन हैं, क्योंकि उनके करने की कामना मन में विद्यमान है। कर्म करने के बजाय विचारों का महत्त्व ज्यादा है, क्योंकि विचारों के उठने के साथ ही मन में मलिनता प्रविष्ट हो जाती है और मनुष्य सुख-दु:ख, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा, ग्रहण-त्याग आदि द्वंद्वों का शिकार हो जाता है। ये द्वंद्व एक सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं। इनमें से एक को ग्रहण और दूसरे का त्याग नहीं किया जा सकता है। अत: इन द्वंद्वों से मनुष्य का बचाव कठिन है। मनुष्य को स्वाभाविक रूप से जो हो रहा है उसे स्वीकार करना और अनाग्रहपूर्वक जीवन बिताना चाहिए।

लोक-चेष्टा आत्मा से कतई भिन्न है। लोक की उत्पत्ति है, विनाश है, वह द्वंद्वात्मक है। इसमें वासना है, कामना है, भोग है। आत्मा के अज्ञान के कारण सांसारिक मनुष्य की जीने की कामना, भोगने की इच्छा कभी शांत नहीं होती है। वह इस लोक में अधिक से अधिक जीने, पाने और भोगने की इच्छा रखता है और इसी में सभी सुख समझता है। दूसरी ओर जिसने आत्मसुख चख लिया, उसे सांसारिक भोग, सुख, इच्छाएँ अनित्य और क्षणिक लगती हैं। पर ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष बिरले ही होते हैं।

सांसारिक सुख अनित्य हैं और तीनों तापों–आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक से दूषित हैं। जो व्यक्ति यह जान जाता है कि ये सुख सारहीन हैं वह शांति प्राप्त करता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि यह संपूर्ण संसार द्वंद्वों, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, लाभ-हानि, संघर्ष-शांति पर आधारित है। किसी भी काल या अवस्था में ये शांत नहीं हुए हैं। ये सदा रहेंगे। इनमें से एक को हटाना संभव नहीं है। ये अगर हटेंगे तो दोनों हटेंगे। जो व्यक्ति इनकी उपेक्षा करके यथाप्राप्य वस्तुओं में संतोष

करता है वही आत्मसिद्धि को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार संसार में अनेक द्वंद्व हैं, उसी प्रकार महर्षियों, साधुओं और योगियों के अनेक मत हैं। अतः ज्ञानप्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को इनकी भी उपेक्षा करनी चाहिए। तभी वे शांति पा सकेंगे। सत्य न तो शास्त्रों में है और न ही सिद्धांतों में। यह तो स्वयं के भीतर है, जिसे पाना ही ज्ञान है।

अष्टावक्र इससे पूर्व शिष्य जनक को समझा चुके हैं कि ज्ञानप्राप्ति के लिए शिष्य की पात्रता अत्यावश्यक है। अब वे गुरु के महत्त्व को समझाते हैं। वे कहते हैं, यदि ज्ञानप्राप्ति गुरु की अनुपस्थिति में होती है तो कई बार शिष्य सँभल नहीं पाता है। उस स्थिति में गुरु की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद शिष्य स्वयं गुरु हो जाता है।

इस संसार में समस्त भूत, सृष्टि, इंद्रिय, देह आदि इस चैतन्य आत्मा का विकार है। जब तुम इसे चैतन्य से अलग भूतमात्र देख पाओगे तभी सभी बंधनों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे।

यह संसार हमें वासना के कारण ही सत्य दिखाई देता है अन्यथा मिथ्या और सारहीन है। सिर्फ वासनाओं के त्याग से ही संसार का त्याग हो जाएगा। संसार तो ज्यों का त्यों रहेगा, पर तुम उससे मुक्त हो जाओगे। उसके बाद तुम कहीं भी रहो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। मुक्त होने के लिए घर-परिवार, समाज छोड़कर कहीं वन में जाने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार गुरु अष्टावक्र ने मुक्ति का मूलमंत्र देते हुए एक सामाजिक अंधविश्वास पर चोट की।

अष्टावक्र ने आगे कहा कि हे जनक, मोक्षप्राप्ति के रास्ते में काम बैरी के समान खड़ा है। इसके अलावा अर्थ अर्थात् धन, संपत्ति आदि इस मार्ग में अनर्थ का सबसे बड़ा कारण हैं। तुम जैसे मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को इनकी उपेक्षा करनी चाहिए। शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को महत्त्व दिया गया है। अष्टावक्र अर्थ और काम के साथ धर्म की भी उपेक्षा करने के लिए कह रहे हैं। इसका कारण है कि धर्म साधन मात्र है और बंधन का कारण है। सिद्धि मिलने पर सभी साधन छोड़ देने चाहिए। तभी परम मुक्ति मिलती है।

मित्र, खेत, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि संपदाएँ थोड़े समय के लिए सत्य दिखाई देती हैं। मृत्यु के बाद स्वप्न की तरह सारा दृश्य बदल जाएगा। तुम इनमें से किसी का साथ नहीं दे पाओगे और न ही इनमें से कोई तुम्हारा साथ दे पाएगा।

अष्टावक्र आगे बताते हैं कि मनुष्य अपना संसार स्वयं बनाता है। मनुष्य

www.tantrik-astrologer.in

की तृष्णा ही उसका संसार है। परमात्मा ने उसे आत्मा और शरीर जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ दी हैं, पर वह आत्मा के अज्ञान के कारण भिखारी की तरह संसारी विषयों की इच्छा करता है और उनको प्राप्त करने की अंधी दौड़ में पड़ जाता है तथा दुखी होता रहता है। अतः जहाँ-जहाँ तृष्णा है वहाँ संसार है। यदि तृष्णा शांत हो जाए तो मनुष्य सुखी हो सकता है। इस स्थिति को वीततृष्णा कहते हैं।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि सिर्फ यह तृष्णा ही बंधन है अन्यथा संसार में और कोई बंधन नहीं है। यदि इसका नाश हो जाए तो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त होने से निरंतर प्राप्ति और संतुष्टि होती है।

अष्टावक्र के अनुसार अब जनक एक शुद्ध चैतन्य है। यह संसार जड़ और असत्य है। ब्रह्म में दो प्रकार की सनातनी शक्तियाँ हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्या अमृतत्व का कारण है और अविद्या संसार की कारण है। अविद्या के प्रभाव से जीव ब्रह्म से दूर खिंचते और विद्या के प्रभाव से समीप आते हैं। अविद्या के कारण मानव का मलिन अंतःकरण बहुमुखी वासना द्वारा चालित होकर भोग के मार्ग पर प्रवृत्त होता है और बंधन की दशा को प्राप्त होता है। अतः अविद्या भी असत्य है और इसे जानने की इच्छा करना व्यर्थ है। वे जनक को राय देते हैं कि तुम्हारे जानने के लिए अब कुछ शेष नहीं बचा है।

"हे जनक, तुम्हारा राज्य, पुत्र, पुत्रियाँ, शरीर और सुख हर जन्म में मिलता और नष्ट होता रहा है। यह जानते हुए भी तुम इनके प्रति आसक्त रहे। हे जनक, तुम हर जन्म में धन कमाते रहे। तुमने काम को भोग लिया। अनेक धार्मिक कार्य भी किए, पर इनसे तुम्हें कभी संतुष्टि नहीं हुई। यदि इनमें कहीं सुख होता तो तुम्हें शांति मिलती।"

अष्टावक्र फिर कहते हैं कि हे जनक, अनेक जन्मों से तुम अपने शरीर, मन और वाणी का उपयोग करते हुए दुःखपूर्ण और श्रमपूर्ण कर्म करते आ रहे हो। अब तो तुम्हें विश्राम करना चाहिए। अब तुम्हें इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिलनी चाहिए।

अष्टावक्र ने आगे कहा, "हे जनक, ये भाव और अभाव के समस्त विकार प्रकृतिजन्य हैं, जो उसके स्वभाव से अपने आप ही हो रहे हैं। जैसे अग्नि जला रही है। पानी ठंडा कर रहा है। यह सब चैतन्य की उपस्थिति मात्र से ही हो जाता है। अतः जब व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह अपने आप को प्रकृतिजन्य कर्मों से ऊपर चैतन्य आत्मा मानता है, वह

सुखपूर्वक रहता है और शांति प्राप्त करता है।

"यह संपूर्ण सृष्टि ईश्वर है। यही चैतन्य सत्ता विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है। जो व्यक्ति यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह शांति प्राप्त करता है और उसकी सारी आशाएँ, अपेक्षाएँ, तृष्णा आदि जड़ से नष्ट हो जाती हैं। उसकी आसक्ति का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है।

"विपत्ति और संपत्ति दैवयोग से ही समय पर आती हैं। जो व्यक्ति यह जान जाता है वह हमेशा संतुष्ट रहता है और उसकी इंद्रियाँ स्वस्थ रहती हैं। वह न तो कामना करता है और न ही शोक करता है।"

इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु भी दैवयोग से ही होती है। यह मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। जो व्यक्ति यह जान जाते हैं वे करने योग्य कर्मों को देखते हुए प्रयासरहित होकर कर्मों को करते चले जाते हैं, पर उनमें लिप्त नहीं होते हैं। अपने आपको निमित्त मात्र मानने वाला व्यक्ति चिंता और तनाव से मुक्त होकर जीता है।

जहाँ पर भी फलाकांक्षा है वहाँ पर चिंता होती है। जहाँ चिंता होती है वहाँ दुःख होता है। जो व्यक्ति यह सत्य जान जाता है वह सुखी और शांत हो जाता है। उसकी सारी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं। वह हर प्रकार की चिंताओं से मुक्त हो जाता है।

जो व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है वह अपने आप को मात्र बोध स्वरूप (चैतन्य) मानने लगता है। उसका अपने शरीर से नाता टूट जाता है। वह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। अब वह अपने को आत्मस्वरूप मानते हुए अपने द्वारा किए और अनकिए कर्मों को याद नहीं करता है, क्योंकि जो कर्म किए गए हैं वे शरीर द्वारा किए गए हैं और जो अनकिए रह गए हैं वे विचारों तक सीमित रह गए हैं और मन की सीमा में आते हैं। दोनों का आत्मा से कोई संबंध नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी शरीरों और पदार्थों को देखता है, इसलिए उसे भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। दूसरी ओर ज्ञानी इस संपूर्ण सृष्टि के मूल तत्त्व ब्रह्म को देखता है और उसे ब्रह्म से लेकर तृणपर्यंत तक एकरूपता दिखाई देती है। वह निर्विकार, शुद्ध, शांत और क्या मिला तथा क्या नहीं मिला से मुक्त हो जाता है।

इस संसार में अनेक प्रकार के आश्चर्य हैं और होते रहते हैं, जो मनुष्य को चकित और भ्रमित करते रहते हैं, पर ज्ञानी पुरुष के लिए यह संसार मिथ्या

www.tantrik-astrologer.in

है। ऐसे व्यक्ति को, जो वासना से दूर चला जाता है, शांति प्राप्त हो जाती है।

अब तक के वार्तालाप में अष्टावक्र गुरु की तरह और जनक शिष्य की तरह बात कर रहे थे। अब जनक को भी ज्ञान प्राप्त हो चुका है। अतः अब संवाद ने नया रूप ले लिया था। अब हो रहे संवाद को दो ज्ञानियों के बीच का संवाद कहा जा सकता है।

राजा जनक ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् होने वाली अनुभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पहले मैंने शारीरिक कर्मों का निरोध किया। उसके बाद वाणी के कर्मों का भी निरोध किया। इन दोनों के बाद मानसिक कर्मों का भी निरोध किया। अब मैं चैतन्य आत्मा में स्थित हूँ।

मन में वासनाएँ होती हैं, उनकी पूर्ति वह शरीर के माध्यम से करता है। यह मन न तो भोगने से शांत होता है और न ही त्यागने से। राजा जनक अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि अब मैं सभी ऐंद्रिक विषयों के प्रति राग को छोड़कर एकाग्रचित्त हो गया हूँ।

आम तौर पर आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए लोग समाधि धारण कर लेते हैं, पर राजा जनक को बिना समाधि के ही आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। वे समाधि-रहित होकर आत्मा में ही स्थित हो गए हैं। वे सब कुछ साक्षी भाव से देख रहे हैं।

आम तौर पर अच्छी वस्तुओं की प्राप्ति पर खुशी और इनके बिछुड़ने पर विषाद होता है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर राजा जनक को हर्ष और विषाद का अभाव हो गया है। वे कहते हैं कि मैं जैसा था वैसा ही हूँ। अज्ञानवश मैंने जो मुखौटे लगा रखे थे वे सभी उतर गए हैं।

इस संसार में प्रचलित आश्रम-व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास), वर्ण-व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र), विभिन्न कर्मों–जप, तप, पूजा-पाठ आदि से परे हो गया हूँ। मुझे यह आत्मज्ञानरूपी विकल्प मिल गया है। मैं सभी से मुक्त हुआ आत्मरूप में स्थित हूँ।

जीवन कर्म है। मृत्यु कर्म का अभाव है। कर्म का आरंभ जन्म के साथ प्रारंभ हो जाता है और मृत्यु तक चलता है। अहंकार से किए गए कर्म फलाकांक्षा के लिए किए जाते हैं। शुभ कर्मों का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। पर ये सभी बंधन का कारण होते हैं। इसी प्रकार कर्मों का त्याग भी बंधन है, क्योंकि यह भी किसी फल की आकांक्षा से किया जाता है। इन दोनों के पीछे मैं की भावना रहती है। अब राजा जनक

अहंकाररहित होकर कर्म और अकर्म तथा उनके त्याग से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हैं।

राजा जनक कहते हैं, "ब्रह्म निराकार है। उसका चिंतन हो ही नहीं सकता है। फिर भी लोग उसका चिंतन करते हैं और उसमें भी चिंता का समावेश होता है। अब मैं चिंता के भाव को त्यागकर भावनामुक्त होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हूँ।"

आत्मज्ञान प्राप्त करने के अनेक रास्ते हैं, जैसे—जप, तप, योग, भक्ति आदि। राजा जनक कहते हैं कि जो व्यक्ति इन साधनों का इस्तेमाल करके आत्मज्ञान प्राप्त करता है वह कृतकृत्य है और जो व्यक्ति स्वभाव से ही आत्मभाव वाला है वह तो कृतकृत्य है ही।

आत्मज्ञानप्राप्ति के पश्चात् अपने अनुभवों का बखान करते हुए राजा जनक कहते हैं कि यह संसार, कर्म, त्याग, ग्रहण आदि कुछ भी नहीं है। यह भाव उन लोगों में भी आसानी से नहीं आ पाता है जो कपड़े (संन्यासी के वस्त्र) धारण कर लेते हैं। मेरे चित्त की चंचलता समाप्त हो गई है और अब मैं त्याग और ग्रहण दोनों से परे होकर सुख प्राप्त कर रहा हूँ।

यह शरीर तमाम व्याधियों का घर है। कभी शरीर में कष्ट होता है। कभी वाणी दुखी कर देती है। दूसरे की कही या कई बार अपनी कही बात बहुत दुखी कर देती है। कभी मन दुखी कर देता है। चिंताएँ, अपमान, महत्त्वाकांक्षाएँ, हीन भावनाएँ आदि मन के दुःख हैं। राजा जनक अब हर प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर आत्मा के आनंद की अनुभूति कर रहे हैं।

मनुष्य के कर्म दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो स्वाभाविक होते हैं जिन्हें करने के लिए श्रम नहीं करना पड़ता है, जैसे—साँस लेना, भोजन को पचाना, हृदय का धड़कना। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें मनुष्य कर्तव्य समझकर करता है या कुछ पाने की इच्छा से करता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों में से कोई भी आत्मकृत नहीं है। इन सभी कर्मों का संबंध शरीर, मन और अहंकार तक सीमित है। पर आत्मज्ञानी भी कर्म करते हैं। उन्हें भी अनेक निजी और सामाजिक कर्म करने पड़ते हैं। राजा जनक कहते हैं, "अब मैं अहंकाररहित होकर स्वाभाविक रूप से जो काम सामने आ जाता है उसे कर देता हूँ और सुख पाता हूँ।"

कर्म करना संसार के लिए आवश्यक है। कर्म छोड़ना ईश्वरीय कार्य में बाधा पहुँचाना है। अतः कर्म ईश्वरीय कार्य समझकर करना चाहिए और कर्तापन

www.tantrik-astrologer.in

से मुक्त हो जाना चाहिए। योगी की साधना शरीर से प्रारंभ होती है जो साधना की प्रथम सीढ़ी है। वह एक-एक सीढ़ी पार करके आगे बढ़ता है। अतः वह शरीर में आसक्ति छोड़ता है। इस आसक्ति के कारण वह कर्म और निष्कर्म दोनों में संयुक्त भाव वाला होता है। उसका कर्म और निष्कर्म दोनों बंधनस्वरूप होता है। इसके विपरीत राजा जनक अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि मैं इस शरीर के संयोग और वियोग दोनों से अलग एक चैतन्य आत्मा में स्थित हूँ। अब कर्म और निष्कर्म मेरे लिए बंधन नहीं हैं। इनमें मेरा न कोई आग्रह है और न ही कोई अपेक्षा। इसलिए मुझे सुख की अनुभूति हो रही है।

राजा जनक आगे कहते हैं कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद मैं अपने स्वभाव में जी रहा हूँ। लाभ-हानि, अर्थ-अनर्थ से मेरा कोई सरोकार नहीं है। मेरी सोने जागने-ठहरने जैसी गतिविधियाँ स्वाभाविक रूप से हो रही हैं। ये न तो दिखावे के लिए हैं और न ही लाभ-हानि की अभिलाषा से। इसलिए मुझे सुख की अनुभूति हो रही है।

स्वाभाविक रूप से काम करने के कारण अब मुझे सोने में भी हानि नहीं है और यत्न करने में भी कोई सिद्धि नहीं है। मैं इतना ही कर रहा हूँ जितना आवश्यक है। आम संसारी कर्म करके भी दुखी, पीड़ित एवं तनावग्रस्त रहता है, जबकि मुझे परम शांति मिल रही है।

आम संसारी व्यक्ति संसार में दुःख देखता है। उसे सुख कम दिखाई देता है। वह इनके लिए समाज और भगवान् को दोष देता है। दुःखों से छुटकारा और सुख-प्राप्ति के लिए वह अनेक शुभ-अशुभ कर्म करता है। दूसरी ओर जनक अपना अनुभव बताते हुए कह रहे हैं कि मैंने अनेक परिस्थितियों में देख लिया है कि जैसे दुःख अनित्य हैं वैसे ही सुख भी अनित्य हैं। यह सृष्टि का नियम है। अब मैं सुख और दुःख दोनों से दूर होकर सुखपूर्वक जी रहा हूँ।

राजा जनक ज्ञानी पुरुष के लक्षणों का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि ज्ञानी शून्य चित्त वाला होता है। उसके चित्त से समस्त कामना, वासना और संस्कारजन्य तरंगें शांत हो जाती हैं और चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है। ऐसा मनुष्य हमेशा जागता रहता है। जिस प्रकार सोते समय मनुष्य के शरीर का छोटा हिस्सा ही सोता है और बड़ा हिस्सा श्वसन-तंत्र, रक्त-प्रवाह, स्नायु-तंत्र आदि चलते रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष यदि संसारी विषयों में लिप्त होता भी है तो वह वासना एवं आसक्ति के कारण नहीं वरन् प्रमादवश ऐसा करता है। प्रारब्ध-कर्म, जिनके लिए यह शरीर मिला है, उन्हें आत्मज्ञान-प्राप्ति के बाद

भी करना पड़ता है। ईश्वरीय विधान के अनुसार भोगे गए कर्म आत्मज्ञानी की मुक्ति के मार्ग में बाधक नहीं हैं।

ज्ञानी पुरुष को शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाती है। इसके बाद उसकी सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। धन, मित्र, विषय-भोग, शास्त्र, ज्ञान आदि मनुष्य की वासना-पूर्ति के साधन मात्र हैं। जब तक मनुष्य के अंदर वासना है तभी तक ये मूल्यवान हैं। आत्मानंद की प्राप्ति के पश्चात् इनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

राजा जनक कहते हैं कि शरीर स्थित देह, इंद्रियों आदि का साक्षी पुरुष यह आत्मा है। जिसने इस आत्मा को जान लिया उसने परमात्मा को जान लिया, क्योंकि परमात्मा आत्माओं में श्रेष्ठ है। इसके ऐश्वर्य के कारण इसे ईश्वर कहा जाता है। साक्षी पुरुष आत्मा, परमात्मा और ईश्वर में अभेद संबंध है। इस संबंध को जानने वाले पुरुष को आशाओं से मुक्ति और बंधन से मुक्ति की भी चिंता नहीं रहती है।

www.tantrik-astrologer.in

आत्मज्ञानी पुरुष का वर्णन करते हुए राजा जनक कहते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुष स्वच्छंदाचारी होता है। उसे सद्-असद्, मिथ्या-भ्रांति, नित्य-अनित्य बुद्धि का ज्ञान हो जाता है। वह सभी बंधनों से मुक्त होकर स्वविवेक से काम करता है। संकल्प-विकल्प से मुक्त ऐसे पुरुष की सामान्य गतिविधियाँ, खाना-पीना, कपड़े पहनना, बात करना आदि सामान्य व्यक्तियों की ही भाँति चलती रहती हैं। वह व्यावहारिकता और शिष्टाचार के नियम भी निभाता है। वह अहंकाररहित होता है और बाहरी अनुशासन के बजाय स्व-अनुशासन से जीता है। ऐसे पुरुष की भीतरी दशाओं को वैसा ही पुरुष जान सकता है।

अब अष्टावक्र को पूर्ण विश्वास हो चुका था कि राजा जनक को जो आत्मबोध हुआ है वह वास्तविक है और वह मात्र भ्रम नहीं है। अब वे आत्मज्ञान की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि सत् बुद्धि वाले पुरुष का अंतःकरण शुद्ध होता है और वह थोड़े से उपदेश से ही कृतार्थ हो जाता है। दूसरी ओर असत् बुद्धि वाले पुरुष के चित्त में वासना, राग-द्वेष, अहंकार आदि भरा होता है। ऐसा व्यक्ति आजीवन ज्ञान-अर्जन हेतु जिज्ञासा करता रहे तब भी उसकी ज्ञान की लालसा पूरी नहीं होती और वह मोहग्रस्त बना रहता है। ऐसा व्यक्ति शास्त्रों का अध्ययन तो कर लेता है, पर तर्क-वितर्क के जाल में फँस जाता है।

तत्त्वज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है यह बताने के बाद अष्टावक्र कहते हैं कि मोक्ष कोई वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त किया जाए। यह कोई स्थान

नहीं है, जहाँ पहुँचा जाए। यह न भोगने लायक वस्तु है और न ही आनंददायक रस है। दरअसल विषयों में विरसता ही मोक्ष है। मनुष्य को जब तक विषयों में रस आता है तब तक वह सांसारिक बना रहता है। मनुष्य का मन बंधन और मुक्ति का कारण है। जब यह विषयों से विरस हो जाता है तब मुक्ति हो जाती है। संसार की उपस्थिति बंधन नहीं है। संसार में रहना, खाना-पीना व अन्य कर्म करना बंधन का कारण बिलकुल नहीं है। अष्टावक्र जनक को स्पष्ट कह देते हैं कि अब तुम मोक्ष को प्राप्त हो चुके हो, अब तुम चाहे जैसे रहो, कोई अंतर नहीं पड़ता है।

आम आदमी भोग की लालसा में अपनी बुद्धि, वाणी और हाथ-पैरों का भरपूर इस्तेमाल करता है। इस तरह वह अत्यंत बातूनी, तेज और मेहनतकश हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को मुक्ति का उपदेश नुकसान पहुँचाता है, क्योंकि यह मनुष्य को शांत और निष्क्रिय बनाता है। यह उपदेश उन्हीं के लिए उचित है, जो सांसारिक गतिविधियों से विरस हो चुके हैं।

अष्टावक्र जनक से आगे कहते हैं कि तुम्हारी इन विषयों में आसक्ति नहीं थी और शुद्ध अंतःकरण वाले थे, इसलिए तुम्हें शीघ्र ही आत्मबोध हो गया। अब तुम शरीर नहीं हो। अब तुम न कर्ता हो और न ही भोक्ता हो। तुम चैतन्यस्वरूप हो, जो नित्य है, साक्षी है, निरपेक्ष है। इसलिए सुखपूर्वक भ्रमण करो। शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि प्रकृतिजन्य हैं, जिनके भिन्न-भिन्न धर्म हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, जिसके गुण-धर्म इनसे भिन्न हैं। अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके हो इसलिए आत्मा ही तुम्हारा कर्म और स्वभाव है जो निर्विकल्प, निर्विकार है। तुम अब इसी के अनुसार आचरण करते हुए सुखपूर्वक रहो।

इस संसार में अनेकता दिखाई देती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे आदि में भिन्नता दिखाई देती है। यह सब मन का ही प्रक्षेपण है और मन अपनी सीमित दृष्टि के कारण भिन्नता देखता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है वह जान जाता है कि संपूर्ण सृष्टि उसी एक आत्मा के विभिन्न स्वरूप हैं। जिस प्रकार एक दूध से अनेक मिठाइयाँ व पदार्थ बनते हैं उसी प्रकार आत्मा ही समस्त सृष्टि का कारण है। इस एक की अनुभूति होना ही परमज्ञान है। अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि अब तुमने जान लिया है कि सब भूत पदार्थों में आत्मा है तथा सब भूत आत्मा ही हैं। दोनों अभिन्न हैं। इसलिए अब तुम्हारे अंदर अहंकार और ममता जन्म नहीं ले सकती। अब तुम सुखी हो।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती हैं पर ये तरंगें समुद्र से अलग नहीं हैं। इसी प्रकार तुम अर्थात् आत्मा उस महासमुद्र के समान हो, जिससे यह संसार तरंगों की भाँति स्फुरित होता है। तरंगें जिस प्रकार अनित्य हैं, उठती हैं और फिर गिरकर नष्ट हो जाती हैं, पर इनसे समुद्र को किसी प्रकार का हानि-लाभ नहीं होता है, उसी प्रकार संसार अनित्य है। वह बनता है, बिगड़ता है, इसमें निर्माण होता है और फिर विनाश भी होता है, पर आत्मा को कोई हानि या लाभ नहीं होता है। इसलिए हे जनक, तुम चूँकि आत्मा हो, अतः संतापरहित हो जाओ।

जनक द्वारा ज्ञानप्राप्ति को जताते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि हे तात, तुमने जो ज्ञान प्राप्त किया है उस पर श्रद्धा करो। जिस व्यक्ति ने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया और सिर्फ पुस्तकों से जाना है या किसी से सुना है उसे अश्रद्धा हो सकती है, क्योंकि ज्ञान बुद्धि की पकड़ से परे है और स्वानुभूति का ही विषय है। तुम तो ज्ञानस्वरूप, भगवान्स्वरूप आत्मा हो, प्रकृति से परे हो, तुम्हारे लिए मोह का कोई कारण नहीं है।

www.tantrik-astrologer.in

जिस प्रकार स्वर्ण से अनेक आभूषण बनते हैं और बिगड़ते हैं, मिट्टी से अनेक बर्तन बनते हैं और टूट जाते हैं, पर मूल तत्त्व सदा विद्यमान रहता है, उसी प्रकार गुणों से लिप्त यह शरीर रहता है, आता है और जाता है; पर आत्मा तो मूल तत्त्व है, वह न कहीं आती है और न ही जाती है। हे जनक, तुम्हें इसके लिए सोच नहीं करना चाहिए।

यह देह तो भगवान् के अवतारों की भी नहीं बची। अनेक लोगों ने अमर होने की कोशिश की, पर अंततः उन्हें भी संसार से जाना पड़ा। पर हे जनक, तुम तो चैतन्यरूप आत्मा हो। तुम न तो नष्ट होगे और न ही तुमसे कोई वृद्धि होगी। तुम तो जैसे हो वैसे ही रहोगे।

जिस प्रकार आकाश में अनेक वायुविक्षेप उठते हैं और शांत हो जाते हैं, पर आकाश सदा अस्पर्शित रहता है, उसी प्रकार तुम्हारे आत्मारूपी अनंत महासमुद्र में चित्त की चंचलता के कारण विश्वरूपी तरंगें उठती हैं और अपने स्वभाव के कारण नष्ट हो जाती हैं, पर इससे तुम्हारी आत्मा की न तो वृद्धि होती है और न ही नाश होता है।

यह सारी सृष्टि एक है, अखंड है। यह सृष्टि एक केंद्र या धुरी के सहारे चल रही है। जिस प्रकार कुएँ अनेक हैं, पर उन सबका जलस्रोत एक ही है। पदार्थ अनेक हैं, पर उन सबका मूल तत्त्व ऊर्जा एक ही है। उसी प्रकार

शरीरस्थ आत्मा ही विश्वात्मा है, जिससे सृष्टि-चक्र चलता है। अष्टावक्र कहते हैं कि हे जनक, तुम चैतन्यस्वरूप हो और यह जगत् तुम्हारा ही एक रूप है, अतः तुम्हारे लिए न कुछ देय है और न उपादेय। तुम्हारे लिए किसी चीज को ग्रहण करने या त्याग करने का कोई अर्थ नहीं है।

जिस प्रकार आकाश निर्मल होता है और सर्वत्र विद्यमान रहता है उसी प्रकार हे जनक, तुम निर्मल, अविनाशी शांत चैतन्यस्वरूप का न तो जन्म होता है और न ही कर्म करना पड़ता है। तुम अहंकार आदि शरीरजन्य विकारों से परे हो और आकाश की भाँति सर्वत्र विद्यमान हो।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कंगन, बाजूबंद और नूपुर देखने और उपयोग में भिन्न-भिन्न हैं, पर सभी एक ही तत्त्व स्वर्ण से बने हैं, उसी प्रकार सृष्टि के भिन्न-भिन्न अवयवों में मूल तत्त्व आत्मा ही है। भेद सिर्फ शरीर और आकृति का है।

यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, यह विभाग करना अब छोड़ दो और संपूर्ण सृष्टि एक आत्मा अर्थात् तुम हो ऐसा मानकर संकल्परहित हो जाओ और सुखी रहो। इसी क्रम में अष्टावक्र आगे कहते हैं–"अज्ञान के कारण ही मनुष्य को संसार अपने से अलग दिखता है। परमार्थ में तो तुम और संसार एक हो। तुम आत्मा के सिवाय संसार में और कुछ नहीं है। यह आत्मा न तो संसारी है, क्योंकि यह संसार में लिप्त नहीं है और असंसारी भी नहीं है, क्योंकि संसार उसी की अभिव्यक्ति है।

"अज्ञानी पुरुष को संसार सत्य दिखाई देता है। उसे इसमें अनेकता, विभिन्नता दिखाई देती है। कुछ लोग आत्मा और परमात्मा में भी भिन्नता देखते हैं, पर यह सब भ्रांति मात्र है और इनमें कतई सच्चाई नहीं है। जबकि ज्ञानी संसार में एकरूपता देखता है। ऐसा व्यक्ति वासनारहित और चैतन्य मात्र है। इस व्यक्ति को परम शांति प्राप्त होती है।

"बंधन में तीन वस्तुओं का होना आवश्यक होता है। एक जो बँधता है, दूसरा जिससे बाँधा जाता है और तीसरा बाँधने वाला। अज्ञानी का जीवन ही बँधता है। उसका बंधन है संसार के प्रति उसकी आसक्ति, मोह और वासना। बाँधने वाला कोई नहीं है। व्यक्ति स्वयं ही अज्ञानवश बँध जाता है। दूसरी ओर ज्ञानप्राप्ति के बाद ज्ञानी की दृष्टि बदल जाती है और वह अपने को शरीर, मन और अहंकार से परे शुद्ध चैतन्य आत्मा मानता है, जिससे सृष्टि और आत्मा में अंतर समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में न तो बंधन होता है और न ही मोक्ष।"

अष्टावक्र कहते हैं कि हे जनक, तुम चैतन्य आत्मा होने के कारण संसार रूपी समुद्र में एक ही थे और आगे भी एक ही रहोगे। अब तक अज्ञानवश तुमने अपने को भिन्न शरीर समझा था। यही बंधन था। अब न तो बंधन है और न ही मोक्ष। तुम कृतकृत्य हो चुके हो, अब सुखपूर्वक इस संसार में रहो।

चित्त का स्वभाव है संकल्प और विकल्प। इनके कारण ही विचार पैदा होते हैं। योजनाएँ बनाई जाती हैं। उनकी पूर्ति हेतु तरीके जुटाए जाते हैं। इस काम में शरीर और इंद्रियाँ जुट जाती हैं। अहंकार के कारण कर्म करने वाला मनुष्य कर्ता बन जाता है और वह अपने ही कर्मजाल में बँध जाता है। अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि अपने मन को संकल्प और विकल्प से दुखी न करो। अब शांत होकर आनंद से परिपूर्ण अपने स्वरूप में रहो।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि यह ध्यान, धारणा, समाधि अज्ञानियों के लिए हैं। ये ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं। तुझ जैसे आत्मज्ञानी के लिए अब ध्यान और धारणा का त्याग करना ही उचित है। तुझ मुक्त आत्मा के लिए विचार-विमर्श की कोई आवश्यकता नहीं है।

अष्टावक्र कहते हैं कि हे जनक, शास्त्र अनेक प्रकार के हैं। इनमें विभिन्न मत हैं। ये तो नक्शे मात्र हैं, जिनके सहारे व्यक्ति लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। ज्ञान तो अपने अंदर है जो तुम प्राप्त कर चुके हो। अनेक शास्त्रों के अध्ययन से या उनके सुनने से मन में विचार की तरंगें और बढ़ जाती हैं और तर्क-वितर्क बढ़ते चले जाते हैं। एक ओर भ्रम बढ़ता है तो दूसरी ओर पांडित्य आने से अहंकार बढ़ता चला जाता है। अत: आत्मज्ञानी के लिए शास्त्र-ज्ञान का विस्मरण जरूरी हो जाता है, तभी शांति प्राप्त होती है। बाह्य अनुभवों का विस्मरण, आत्मस्मरण के लिए आवश्यक है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं, "हे ज्ञानस्वरूप जनक, यह मन बड़ा चंचल है, यह विषयों की ओर लुभायमान रहेगा ही। मनुष्य कितना भी सुख भोगे वह तृप्त नहीं होता है। अनेक कर्म करने के बाद भी अधिकाधिक प्राप्ति की लालसा में वह कर्म की ओर प्रेरित रहता है। समाधि की अवस्था में भी उसकी चंचलता जाती नहीं है। थोड़े समय बाद वह फिर विषयों की ओर भागता है।

"मनुष्य आजीवन प्रयास करता रहता है। धन, यश, पद, प्रतिष्ठा, ज्ञान, विद्वत्ता आदि सभी प्रयास से मिलते हैं। यदि मनुष्य ने प्रयास न किया होता तो संसार आज इतना सुंदर और उपयोगी न होता। मनुष्य परमात्मा की खोज भी इसी तरह प्रयास करके करना चाहता है। पर प्रयास से लोग दुखी और अशांत

www.tantrik-astrologer.in

भी होते हैं। तनावग्रस्त होने के कारण विक्षिप्त और उद्वेलित रहते हैं और यह स्थिति आत्मबोध में बाधा है। मनुष्य चित्त की शांति प्राप्त करके ही आत्मज्ञानी हो सकता है। कुछ भाग्यवान लोग ही इस उपदेश को ग्रहण कर पाते हैं और निर्वाण को प्राप्त कर पाते हैं।"

इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि कुछ कर्म जैसे साँस लेना और छोड़ना, पाचन संस्थान, आँख खोलना, बंद करना आदि स्वाभाविक कर्म हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वाभाविक कर्म करने में भी आलस करता है तो वह आलसी शिरोमणि है। वह ज्ञानी नहीं है। ज्ञानी तो प्रयासरहित अर्थात् फलाकांक्षा छोड़कर कर्म करता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि आम आदमी इस द्वंद्व में फँसा रहता है कि मैंने यह कर दिया, पर यह नहीं किया। यह भी करना चाहिए था। जब वह इस द्वंद्व से मुक्त हो जाता है तब वह धर्म, अर्थ, काम के अलावा मोक्ष के प्रति भी उदासीन हो जाता है। यदि मनुष्य के मन में मोक्ष की कामना है तो वह मोक्ष से बहुत दूर है।

संसार के अधिकांश लोग विषयों में लोलुप हैं और वे रागी कहलाते हैं। इनका पूरा चिंतन अधिक से अधिक प्राप्त करने में लगा रहता है। ऐसे लोग निकृष्ट से निकृष्ट कर्म करने में भी नहीं चूकते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो विषयों से द्वेष करते हैं। ये लोग विरक्त कहलाते हैं। ये लोग सांसारिक विषयों, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र आदि को बुरा-भला कहते हैं। ये लोग भी दुखी रहते हैं। अष्टावक्र कहते हैं, जो लोग ग्रहण और त्याग दोनों से रहित हैं वह न तो विरक्त हैं और न रागवान। ऐसे निर्द्वंद्व लोगों को ही शांति मिलती है। दरअसल मोक्ष कोई स्थान नहीं है जहाँ जाना होता है। यह चित्त की शांत दशा है।

जब तक मन में अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, ग्रहण और त्याग की भावना रहती है तब तक स्पृहा (तृष्णा) जीवित रहती है। यह तृष्णा ही अविवेक की दशा है। इसी प्रकार त्याग भी अगर उच्च भोगों जैसे स्वर्गादि के लिए किया जाए तो वह भी तृष्णा है। सांसारिक मनुष्य थोड़े से भोगों की तृष्णा करता है और घर-परिवार, धन, सुख, नौकरी चाहता है, पर तथाकथित त्यागी तो इन छोटे से सुखों को त्यागकर स्वर्ग, मोक्ष आदि की महातृष्णा करते हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि यह तृष्णा ही संसाररूपी वृक्ष का अंकुर है। तृष्णा छोड़े बगैर मुक्ति संभव नहीं है।

संसार से मुक्ति के दो मार्ग बताए जाते हैं। एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा

निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग वाले कहते हैं कि भोग से ही मुक्ति होती है। प्रारब्ध कर्मों के कारण ही यह जीवन मिला है, अतः इन्हीं कर्मों को भोगे बगैर मुक्ति संभव नहीं है। आत्मज्ञानी को भी प्रारब्ध-कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। दूसरी ओर निवृत्ति मार्ग वाले सांसारिक कर्मों को छोड़ने का प्रयास करते हैं। वे भी अहंकार के कारण कर्मों का उल्लंघन करते हैं। हठयोगी भी हठपूर्वक इंद्रियों की क्रियाओं को रोक तो देते हैं, पर भीतर वासनाएँ चलती रहती हैं। आसक्ति बने रहने के कारण व्यक्ति पाखंडी हो जाता है। प्रवृत्ति मार्ग वाले मुक्त होने से पहले भोग लेना चाहते हैं, ताकि संतुष्टि मिल जाए और निवृत्ति मार्ग वाले समझते हैं कि जितना भोगोगे, वासनाओं के प्रति आकर्षण उतना ही बढ़ेगा और वे छोड़ने का प्रयास करते हैं। अष्टावक्र इन दोनों मार्गों से अलग तीसरा रास्ता बताते हुए कहते हैं कि प्रवृत्ति से राग उत्पन्न होता है, जबकि निवृत्ति से द्वेष पैदा होता है जो कि बंधन का कारण है, इसलिए आत्मज्ञानी पुरुष को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से मुक्त होकर बालक के समान निर्द्वंद्व होकर सरल और स्वाभाविक जीवन जीना है। ऐसा पुरुष स्वभाववश जो होता है कर लेता है। वह वासनायुक्त कर्म में न तो लिप्त होता है और न ही उसका त्याग करता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि वह पुरुष भी रागी ही है जो सांसारिक दुःखों से बचने के लिए संसार का त्याग करना चाहता है। घर-बार, पत्नी-बच्चे, धन-संपत्ति आदि छोड़ने पर भी उसके दुःख समाप्त नहीं होते हैं। उसे जंगल में भी शांति नहीं मिलती है। ऐसे में वीतराग होना ही दुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय है। वीतरागी पुरुष तृष्णा को छोड़कर मानसिक दुःखों से मुक्त होकर संसार के बीच ही रहता है और सुख पाता है।

ज्ञान और योग में सिद्धि अत्यंत कठिन प्रक्रिया है। योगी अष्टांग योग साधता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम की क्रिया से विधिपूर्वक एक-एक सीढ़ी आगे बढ़ता है। कभी वह गिर भी जाता है तो फिर उठकर अगली सीढ़ी पर पहुँचता है। दूसरी ओर ज्ञानी बिना क्रिया के वहाँ पहुँचता है। बोध मात्र से वह अस्तित्व से अनस्तित्व में छलाँग लगा देता है। अष्टावक्र कहते हैं कि अगर ऐसे ज्ञानी और योगी भी अहंकार के शिकार हो जाएँ और सोचने लगें कि अब मैं मुक्त हो गया, कैवली हो गया, सिद्धशिला पर बैठ गया, मैं ब्रह्म हो गया, अब मेरे से बड़ा कोई नहीं है, और शरीर के प्रति ऐसी ममता हो जाए कि लोग शरीर की पूजा करें, शोभायात्रा निकालें, गुरु, तीर्थंकर, भगवान् मानें तो ऐसा व्यक्ति न तो ज्ञानी है और न ही योगी। वह केवल दुःख का भोगी बनता है।

ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् गुरु की भूमिका समाप्त हो जाती है। ज्ञानी गुरु अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि ज्ञानप्राप्ति के लिए अन्य बातों का विस्मरण आवश्यक है, क्योंकि जब तक व्यक्ति स्मरण करता रहेगा तब तक मुक्त नहीं हो पाएगा। अगर किसी व्यक्ति ने ब्रह्मा, विष्णु या महेश से भी ज्ञान प्राप्त किया है तो भी उसका विस्मरण अर्थात् भूलना आवश्यक है। इसके बिना शांति और मुक्ति नहीं मिल सकती है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि जो व्यक्ति तृप्त है, शुद्ध इंद्रियों वाला है और सदा एकाकी रमण करता है उसी को ज्ञान और योगाभ्यास का फल मिलता है। इसके विपरीत ज्ञानप्राप्ति के बाद भी जो तृप्त नहीं है और उसकी वासनाएँ अभी सक्रिय हैं और वह अभी भी संगी-साथियों, मित्र-शत्रु, हितैषी-द्वेषियों में उलझा रहता है वह ज्ञानप्राप्ति के फल से वंचित रह जाता है और वासनाओं से घिर जाता है।

तत्त्वज्ञानी यह जानते हैं कि यह समस्त ब्रह्मांड मंडल उसी एक आत्मा का विस्तार है, उसी एक से परिपूर्ण है, अतः दूसरा कुछ है ही नहीं। अतः दुःख किससे होगा? इसलिए तत्त्वज्ञानी इस जगत् में किसी भी परिस्थिति में दुखी नहीं होता है।

यह निर्विवाद है कि विषयों में कुछ क्षणों के लिए आनंद मिलता है तभी संसार इनके पीछे पागलों की तरह भागता है। कुछ लोगों ने विपरीत सिद्धांत का प्रचार किया कि सांसारिक सुखों से दूर भागो। पर दुनिया से दूर भागने से कभी किसी को सुख नहीं मिला। प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष की कामना करने वाला विवेकी नहीं हो सकता है। छोड़ना पाने की शर्त नहीं है। यदि उच्च मिल जाएगा तो निम्न अपने आप छूट जाएगा। अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार सल्लकी के पत्तों के मिल जाने पर हाथी नीम के पत्ते देखकर प्रसन्न नहीं होता है इसी प्रकार जिसे आत्मानंद—जो चिरस्थायी सुख है—प्राप्त हो गया हो उसे सांसारिक सुख नहीं भाते हैं।

आत्मज्ञानी के व्यवहार का वर्णन करते हुए अष्टावक्र कहते हैं, "हजारों मनुष्यों में से कोई एक व्यक्ति अंतःकरण की शुद्धि के लिए प्रयास करता है। इनमें से भी कोई बिरला ही आत्मा के यथार्थ को जान पाता है। ऐसे आत्मज्ञानी भोगे हुए विषयों में वासना नहीं रखते हैं, क्योंकि वे स्मृति से मुक्त हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानी न भोग पाए विषयों के प्रति भी आकांक्षा नहीं रखता है। ऐसा दुर्लभ आत्मज्ञानी आत्मा में ही तृप्त रहता है।

www.tantrik-astrologer.in

"हमारे चित्त में अनेक तरंगें उठती रहती हैं। तमाम लोगों में ये तरंगें सांसारिक भोग की इच्छा के लिए उठती हैं। अनेक लोगों में ये तरंगें मोक्ष की इच्छा के लिए भी उठती हैं। मनुष्य मोक्ष के लिए भी यत्न करता है। इन कारणों से मनुष्य अशांत बना रहता है।" अष्टावक्र कहते हैं कि इस संसार में बिरला ही एक ऐसा व्यक्ति मिलता है, जिसे न भोग की आकांक्षा है और न मोक्ष की। ऐसा व्यक्ति आत्मज्ञानी ही हो सकता है।"

आत्मज्ञानी के अन्य गुण बताते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञानी उदारचित्त होता है, क्योंकि उसी को संपूर्ण सृष्टि में एक ही आत्मा दिखाई देती है और भिन्नता कतई दिखाई नहीं देती है। आत्मज्ञानी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को तथा जीवन और मृत्यु को तथा संसार को भी न तो ग्रहण करने योग्य समझता है और न ही त्यागने योग्य। वह जीवन्मुक्त होता है।

आत्मज्ञानी को विश्व की स्थिति पर न तो प्रसन्नता होती है और न ही द्वेष। वह संपूर्ण विश्व को साक्षी भाव से देखता है। वह न अधिक की कामना करता है और न कम मिलने पर दुखी होता है। उसे जो आजीविका मिल जाती है उसे पाकर सुखपूर्वक जीता है।

एक ही चैतन्य आत्मा इस संपूर्ण सृष्टि का आधार है। इसी चेतना से सबसे पहले बुद्धि उत्पन्न हुई। इस बुद्धि से अहंकार पैदा हुआ, जिसके कारण जीव ने अपने आपको उस चैतन्य आत्मा से भिन्न अनुभव किया। यह अज्ञान ही उसका पाप बन गया। आत्मा महासागर है और बुद्धि एक छोटी चम्मच जैसी है। बुद्धि छोटा पैमाना है जिससे छोटे-मोटे कार्य हो सकते हैं, पर उस विराट् चेतना को नहीं नापा जा सकता है। मनुष्य की यह बुद्धि तर्क-वितर्क, प्रश्न-उत्तर, चिंतन-मनन कर सकती है। अच्छे-बुरे में भेद कर सकती है, पर इससे विराट् नहीं जाना जा सकता है। चेतना बुद्धि से पार है और जो कार्य बुद्धि से नहीं होते वे चेतना से हो जाते हैं। उच्चकोटि का सारा ज्ञान चेतना से संभव होता है। बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, गणित, उच्चकोटि का साहित्य, अध्यात्म, वेद, पुराण आदि सीधे चेतना से ही आए हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि जो आत्मज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर लेता है उसकी बुद्धि गलित हो जाती है। वह क्षुद्र से विराट् हो जाता है। उसे संपूर्ण कार्यों, विधि-विधान का ज्ञान हो जाता है। वह इस संसार से विमोहित न होकर स्वाभाविक रूप से अनिवार्य कर्मों को करता हुआ संसार के प्रति साक्षी भाव रखता है और सुखपूर्वक रहता है।

www.tantrik-astrologer.in

बुद्धि का अनुभव क्षुद्र का ही अनुभव है। यह अनुभव संसार तक ही सीमित है। चेतना का अनुभव विराट् का अनुभव है। वह समग्र को एक साथ देखता है। उसके लिए यह संसाररूपी सागर छोटी क्षीण वस्तु के समान हो जाता है। ऐसे समग्र के द्रष्टा आत्मज्ञानी को संसार में न तृष्णा होती है और न ही विरक्ति। उसकी दृष्टि पूर्ण हो जाती है। वह व्यक्ति सब कुछ पा जाता है और इसलिए उसके द्वारा इंद्रियों का प्रयोग और चेष्टा आदि करना निरर्थक हो जाता है। परमानंद के प्राप्त होने पर क्षणिक सुख अपने आप छूट जाते हैं।

मुक्त चेतना वाला वह व्यक्ति उस विराट् का अनुभव कर लेता है और सांसारिक कर्मों का साक्षी मात्र रह जाता है। उसकी शारीरिक क्रियाएँ, जैसे–सोना-जागना, पलक खोलना-बंद करना आदि स्वभाववश होती हैं और वह इनके लिए कतई प्रयास नहीं करता है। ज्ञान की यह परम दिशा है। चेतना की चार दिशाएँ होती हैं–जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय। जागृति में अहंकार, कर्ताभाव आदि होता है। स्वप्न में यह भाव क्षीण हो जाता है। सुषुप्ति में इनका अभाव हो जाता है। चौथी तुरीय अवस्था में व्यक्ति अपने आप को परमात्मा में विलीन कर लेता है।

आत्मज्ञानी पुरुष हर्ष, विषाद, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से पार हो जाने से सदा स्वस्थ, शांत एवं विमल आशय वाला हो जाता है। वह सभी वासनाओं से रहित हो जाता है। वासनाग्रस्त व्यक्ति संकीर्ण दायरे में सोचता है। ज्ञानी वासनाओं से रहित होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना वाला होता है। ऐसा व्यक्ति सर्वत्र सुशोभित होता है।

जीवन्मुक्त व्यक्ति के लक्षण बतलाते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति अपने स्वाभाविक कर्मों, जैसे–देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, चलता हुआ भी इनमें लिप्त नहीं होता है। वह हित-अहित से मुक्त रहता है।

परमात्मा सभी रसों का रस है। यह पूर्णानंद है। जिसे वह आनंद मिल गया उसे संसार के सभी रस फीके लगने लगते हैं। वह रसरहित हो जाता है। यदि संसार में तृप्त होने लायक सुख होता तो मनुष्य परमात्मा को नहीं ढूँढ़ता। जीवन्मुक्त व्यक्ति न तो किसी की निंदा करता है और न ही स्तुति, वह न तो प्रसन्न होता है और न ही गुस्सा, वह न तो ग्रहण करता है और न ही त्याग करता है। वह आग्रहपूर्वक कुछ भी नहीं करता है, स्वभाववश जो कुछ भी होता है कर लेता है।

मनुष्य का मन बंधन का कारण है। मन में दो वृत्तियाँ राग और भय शांत नहीं होती हैं। विषयों में राग होता है। इनमें काम सबसे शक्तिशाली है। काम से जीवन उत्पन्न होता है। वासना, कामना, सृजन की ऊर्जा ही काम है। यह सृष्टि काम का विस्तार है, इसलिए मनुष्य इसकी ओर आकर्षित होता है। दूसरी वृत्ति भय है, जिसमें मृत्यु से भय सर्वाधिक होता है। मनुष्य में जीने की इच्छा अत्यंत प्रबल होती है। यह भी दरअसल राग और वासना के कारण होती है। जो मनुष्य अतृप्त है और जिसने संसार का पूरा भोग नहीं किया है, वह मृत्यु से बहुत घबराता है। यदि राग और वासना छूट जाए तो मृत्यु से भय नहीं लगता है। अष्टावक्र कहते हैं कि जो व्यक्ति प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर भी अविचल रहता है और उसके मन में कोई विकार नहीं होता है वह निश्चित रूप से मुक्त है।

सुख-दुःख का भेद चाह के कारण होता है। यदि इच्छा बदल जाए तो दुःख सुख में और सुख दुःख में बदल जाता है। सृष्टि में सुख और दुःख का स्पष्ट विभाजन नहीं है। इसी तरह स्त्री-पुरुष की भिन्नता सिर्फ शरीरगत है। आत्मा न तो स्त्री है और न ही पुरुष। इसी प्रकार संपत्ति और विपत्ति मन का ही प्रक्षेपण है। आत्मज्ञानी पुरुष समदर्शी होता है। अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए सुख-दुःख, नर-नारी, संपत्ति-विपत्ति में कोई अंतर नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है और परमतत्त्व को जान लेता है उसका संसार के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। वह मनुष्य के बीच में भिन्नता नहीं देखता है, क्योंकि उसे संपूर्ण सृष्टि एक आत्मा दिखाई देती है। इसके बाद उस मनुष्य के लिए हिंसा, करुणा, उद्दंडता, दीनता आदि का कोई अर्थ नहीं रहता और वह इन गुणों से परे हो जाता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि जीवन्मुक्त पुरुष संसार के क्षणभंगुर भोगों का त्याग करके आत्मानंद का शाश्वत भोग कर रहा है। कुछ तथाकथित साधु विषयों से द्वेष करते हैं और दुखी रहते हैं। दूसरी ओर आम संसारी इन विषयों के लालच में भागता रहता है, वह भी दुखी रहता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति इन विषयों से न तो द्वेष करता है और न ही उनका लालच करता है। अष्टावक्र के अनुसार आत्मज्ञानी को किसी चीज में आसक्ति नहीं होती है। उसे जो चीज प्राप्त हो जाती है उसका वह भोग करता है, जो चीज नहीं मिलती उसकी चिंता नहीं करता है।

www.tantrik-astrologer.in

आत्मज्ञानी पुरुष का चित्त शांत अर्थात् शून्य हो जाता है। उसमें विचार, वासना, कामना की तरंगें उठना बंद हो जाती हैं। इस स्थिति को कैवल्य की स्थिति कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के मन में किसी समस्या के समाधान, असमाधान, हित, अनहित आदि की बात नहीं उठती है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति चित्त की शून्यता को प्राप्त करके आत्मा में स्थित हो जाता है। उसकी सारी आशाएँ गलित हो जाती हैं। वह आत्मा के अलावा और किसी को नहीं जानता है। वह न तो किसी से ममता करता है और न किसी बात पर अहंकार। वह अपने कार्य अवश्य करता है, पर उसमें कर्ताभाव नहीं होता, वह अलिप्त रहता है।

आत्मज्ञान में सबसे बड़ी बाधा मन होती है। कर्म, मोह, स्वप्न एवं जड़ता का आभास मन से ही होता है। जिसका मन गलित हो जाता है, उसके कर्म, मोह, स्वप्न एवं जड़ता सब समाप्त हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति पूर्ण चैतन्य और जागृत अवस्था को प्राप्त कर लेता है और इस दशा का वर्णन असंभव है।

अब अष्टावक्र ने आत्मज्ञान के सौ श्लोकों का वाचन प्रारंभ किया। इसके आरंभ में अष्टावक्र आत्मा अर्थात् ब्रह्म को नमस्कार करते हैं जो एकमात्र है और संपूर्ण सृष्टि में उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। अष्टावक्र के अनुसार आत्मा आनंदस्वरूप है, शांत है और तेजोमय है। इसका ज्ञान होते ही सभी प्रकार के भ्रम स्वप्न की भाँति समाप्त हो जाते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि मनुष्य अनेक प्रकार की धन-संपत्ति कमाता है और उनका भोग सुखप्राप्ति के लिए करता है। पर वास्तविक सुख तो धन के त्याग के बाद ही मिल पाता है। धन के त्याग का अर्थ धन कमाना बंद करके आलसी और निकम्मा हो जाना नहीं है वरन् धन के प्रति आसक्ति का त्याग है। धन से जो सुख मिलता है वह अस्थायी होता है। ज्ञानी संतोष को ही परम सुख मानते हैं। देने में जो सुख है वह लेने में नहीं है। जो समाज से कम से कम लेता है और अधिक से अधिक देता है वही परम सुख के साथ जी सकता है।

अष्टावक्र कहते हैं, आम तौर पर अपने कर्तव्य करने से कष्ट होता है और मनुष्य का अंतर्मन उस दुःखरूपी सूर्य के ताप से जलता है। इसका एकमात्र उपाय है शांतिरूपी अमृतधारा की वर्षा, जिससे मनुष्य सुखी हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि अगर मनुष्य कर्तापन–जो अहंकार का कारण है–भूल जाए और स्वभाववश कर्म करे तो उसे आनंद मिलेगा। स्वयं को निमित्त मानकर

कर्म करने से दुःख नहीं होता वरन् शांति मिलती है।

अष्टावक्र कहते हैं कि यह संसार भावना मात्र है। हर व्यक्ति अपनी भावना के अनुसार ही संसार को देखता है, इसलिए सबको यह भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। जैसे स्वप्न भी मन का प्रक्षेपण है। वह सत्य प्रतीत होता है। नींद टूटने पर ही लगता है कि यह स्वप्न था या भ्रांति थी। इसी प्रकार संसार के प्रति भ्रांति भी आत्मज्ञान से ही मिटती है। ज्ञानियों के अनुसार संसार परमार्थतः कुछ भी नहीं है। परमार्थ (परम्-अर्थ) में आत्मा ही सत्य है। आत्मा भाव-रूप है और संसार अभाव-रूप है। दोनों में जो स्वभाव-रूप आत्मा है वही सत्य है और उसका कहीं भी अभाव नहीं है।

इसके बाद अष्टावक्र आत्मा की स्थिति और उसकी विशेषताओं को बताते हुए कहते हैं कि आत्मा कहीं किसी सातवें आसमान पर नहीं है, न ही यह किसी अदृश्य लोक में या स्वर्ग में है। यह स्वयं के अंदर है और सदा ही उपलब्ध रहती है। विकारों की धूल पोंछकर स्वयं को जागृत अवस्था में लाने से यह प्राप्त हो जाती है। विचारों के घने बादलों के बीच यह छुप जाती है। विचारशून्य होने पर इसका ज्ञान होता है। इस निर्विकल्प आत्मा को हम निर्विकल्प होकर ही जान सकते हैं। यह निर्विकार, निर्दोष है। इसे न तो छीना जा सकता है और न ही चोर चुरा सकते हैं। यह सिर्फ विस्मृत हो सकती है, अतः इसे पुनः स्मृति में लाना आवश्यक है।

आत्मज्ञानी के विषय में अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति द्वंद्वों से पार होकर बिना शोक वाला और निरावरण दृष्टि वाला हो जाता है। वह सभी को सीधा देखता है। मोह-ममता, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा की दृष्टि से नहीं देखता है। ऐसा व्यक्ति ही शोभायमान होता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं, "यह समस्त संसार कल्पना मात्र है। मनुष्य जैसी अच्छी-बुरी कल्पना करता है, संसार उसे वैसा ही दिखाई देता है। अज्ञानी पुरुष संसार का वास्तविक स्वरूप नहीं देख पाता है। दूसरी ओर आत्मा मुक्त है और सनातन है। आत्मज्ञानी पुरुष को आत्मा सत्य और संसार असत्य दिखाई देता है। अज्ञानी पुरुष चेष्टा करता है, अभ्यास करता है, साधना करता है, पर आत्मज्ञान इनसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है।"

अब अष्टावक्र आत्मा और ब्रह्म की अभेदता का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। व्यक्ति में उपस्थित चेतना का नाम आत्मा तथा समष्टिगत चेतना ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म एक ही है जो भिन्न-भिन्न पदार्थों

के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। ये भाव और अभाव मन की कल्पना मात्र हैं। वही एक ब्रह्म है जो न भाव-स्वरूप है और न अभाव-स्वरूप है। यह सृष्टि ही परमात्मा है। स्व का ज्ञान ही धर्म है और पर का ज्ञान है विज्ञान। जब मन वासना, आसक्ति, अहंकार से मुक्त होता है तो जो शेष रहता है वह ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ ज्ञानी निष्काम है। परम ज्ञान की स्थिति में कर्ता खो जाता है, इसलिए कर्म भी खो जाते हैं। फिर वह जो करता है वह कर्म नहीं है। जो कहता है वह सत्य है। सब कुछ स्वभाववश होता है।

आत्मज्ञानी की कल्पनाओं के बारे में अष्टावक्र कहते हैं कि सृष्टि में एक ही अस्तित्व था और वह अविभाज्य था। जब मनुष्य जीवात्मा और परमात्मा में अज्ञानवश भेद करने लगा तब उसके मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ, जैसे–यह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ–आने लगीं। जब ज्ञानी की सभी भ्रांतियाँ मिट जाती हैं तो इस प्रकार की कल्पनाएँ भी क्षीण हो जाती हैं। यह उसी प्रकार होता है, जैसे दीपक जलने से अंधकार मिट जाता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं, "चित्त में संकल्प-विकल्प निरंतर उठते रहते हैं। इन्हीं संकल्पों और विकल्पों के कारण संसार है। आत्मज्ञानी योगी का चित्त इन संकल्पों-विकल्पों से रहित होकर पूर्णतः शांत हो जाता है। चित्त के सभी विक्षेप समाप्त हो जाते हैं। विक्षेप होने पर ही एकता की धारणा, ध्यान, समाधि आदि की आवश्यकता होती है। अति बोध और मूढ़ता, सुख और दुःख की अनुभूति भी चित्त के विक्षेपों के कारण ही प्रतीत होती है। आत्मज्ञानी के समस्त विक्षेप शांत हो जाते हैं। वह आत्मा का सर्वत्र अनुभव करता हुआ नित्य आत्मानंद में ही मग्न रहता है और उसे अन्य चीजों का अनुभव नहीं होता है।

"ऐसा व्यक्ति निर्विकल्प अवस्था में एक ही आत्मानंद में रमण करता है। इस कारण उसके लिए चाहे साम्राज्य-सुख हो या भिक्षा-वृत्ति, लाभ हो या हानि, समाज में रहे या दुःख-सुख हो उनमें, कोई अंतर नहीं पड़ता है। उसका सारा आग्रह समाप्त हो जाता है। उसका कोई चुनाव नहीं होता है, कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है, कोई शिकायत नहीं होती है, जो है सब स्वीकार है।"

अष्टावक्र जीवन्मुक्त योगी के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि योगी के चित्त की संकल्प-विकल्प अवस्था से पूर्णतः निर्विकल्प हो जाने से उसके समस्त विक्षेप शांत हो जाते हैं। इससे वह किए और अनकिए सभी प्रकार के द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। ऐसे मुक्त योगी के लिए धर्म, अर्थ, काम और विवेक का बंधन समाप्त हो जाता है। ज्ञानी अपनी आत्मा के स्वभाव के अनुसार इनका

www.tantrik-astrologer.in

पालन करता है। जबकि अज्ञानी बाध्य होकर, अस्वाभाविक रूप से इनका पालन करते हैं।

इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि जीवन्मुक्त योगी के लिए कर्तव्य-कर्म कुछ भी नहीं है। दरअसल कर्मों का सांसारिक उद्देश्य होता है—धन, सुख, मान-सम्मान, शांति-ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति। धार्मिक व्यक्ति कर्मों द्वारा स्वर्ग, मोक्ष, सद्गति प्राप्त करना चाहता है। इसलिए वह दान करता है, धर्मशाला बनवाता है। पर जो योगी जीवन्मुक्त हो गया, उसने तो वह सब पा लिया है जिसके लिए वह सब काम किया जाता है। वह तो वे कर्म करता है जो बिना फलाकांक्षा के स्वाभाविक रूप से होते हैं। ऐसे कर्मों के प्रति हृदय में कोई अनुराग नहीं होता है।

आत्मज्ञानी के लिए महात्मा शब्द का इस्तेमाल करते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि महात्मा वह है, जिसके चित्त की सभी वृत्तियाँ शांत हो गई हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए न तो कहीं मोह है और न संसार का कोई महत्त्व। वह ध्यान और मुक्ति से भी परे हो जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि जगत् को स्वीकार करने वाला, उसी को सत्य समझने वाला व्यक्ति वासनाग्रस्त होता है। यदि अचानक मोक्ष की कामना जगने पर वह यह कहने लगे कि संसार मिथ्या है तो भी यह वासना का ही दूसरा रूप है। इसके विपरीत वासनारहित जीवन्मुक्त योगी संसार को देखता हुआ, उसमें निवास करता हुआ भी ऐसा व्यवहार करता है, जैसे वह कुछ नहीं देख रहा है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि चिंतन दो के बिना नहीं होता है। एक चिंतन करने वाला और दूसरा जिसका चिंतन किया जा रहा है, अर्थात् जीव और ब्रह्म के भिन्न-भिन्न होने पर चिंतन संभव है। अज्ञानी अपने आपको परब्रह्म से भिन्न समझकर उसका चिंतन करता है। पूर्ण ज्ञान की स्थिति में जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाता है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म की अनुभूति होती है, फिर चिंतन की आवश्यकता नहीं बचती है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि हर प्राणी के भीतर स्थित चेतना ही आत्मा है, जिसके कारण मन, शरीर, इंद्रियाँ आदि सक्रिय होती है। यह चेतना शक्ति अर्थात् आत्मा ही ब्रह्म या ईश्वर है, पर सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं पड़ती है। हमारे मन में वासनाएँ हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार की तरंगें उठती हैं और इनके कारण हम आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव से वंचित रहते हैं। आत्मा के अनुभव

www.tantrik-astrologer.in

के लिए योग का सहारा लिया जाता है, क्योंकि योग चित्त की तरंगों को शांत कर देता है। जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका हो उसका चित्त पहले ही शांत और विक्षेपरहित हो जाता है। उसे योग आदि उपाय करने की आवश्यकता नहीं होती है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी में बाहर कोई अंतर नहीं दिखाई देता है, पर अंदर बड़ा अंतर होता है। अज्ञानी के सारे कार्य अपने अहंकार और वासना की तृप्ति के लिए होते हैं। वह शरीर-पोषण में ही लगा रहता है। ज्ञानी भी खाता-पीता है और अज्ञानियों की भाँति बाह्य कर्म करता है, पर भीतर जगा रहता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष मुक्त होता है और समाधि, विक्षेप और बंधनों को भी नहीं देखता है।

अष्टावक्र के अनुसार ज्ञानी पुरुष तृप्त होता है। उसे न तो अहंकार होता है और न ही फलाकांक्षा। वह कर्म करके भी कोई अपेक्षा नहीं रखता है और भाव और अभाव की चिंता से रहित रहता है। वह शेष संसार की तरह कर्म करता है, पर कर्म में लिप्त नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष कर्तव्यादि अभिमान से दूर हो जाता है और उसके सभी आग्रह और संकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह न तो यह कहता है कि मैं यह करूँगा और न यह कहता है कि मैं यह नहीं करूँगा। जो काम आ जाता है उसे करके सुखपूर्वक रहता है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई व्यक्ति पानी में डूब रहा होगा तो उसे ज्ञानी भी बचाएगा और अज्ञानी भी, पर अज्ञानी अपना प्रचार करेगा और पुरस्कार की अपेक्षा करेगा, पर ज्ञानी अपना काम करके बिना अपना परिचय दिए विदा ले लेगा।

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष वासनारहित, बंधनरहित और स्वच्छंद हो जाता है। उसे किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती है। वह अपने विवेक से काम करता है। वह संसार रूपी वायु से प्रेरित होकर एक सूखे पत्ते की तरह व्यवहार करता है। जैसे सूखा पत्ता उसी ओर उड़ जाता है जिधर हवा ले जाती है उसी प्रकार ज्ञानी भी प्रकृति द्वारा प्रेरित होकर कार्य करता है।

अष्टावक्र कहते हैं, "मनुष्य का संसार बाहर नहीं है वरन् उसके अंदर स्थित वासनाएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ आदि उसका संसार हैं। इन्हीं से प्रेरित होकर वह संसार को देखता है और इस कारण उसे हर्ष-विषाद का अनुभव होता है। यदि उसके भीतर का संसार खो जाए तो वह शांत मन वाला हो जाता है और विदेह की भाँति संसार में शोभायमान होता है।

"अज्ञानी पुरुष धन, पद, स्त्री, पुत्र आदि में खोया रहता है। वह इनमें आनंद ढूँढ़ता है। पर इन सुखों का कोई भरोसा नहीं होता है, क्योंकि इन्हें कोई भी छीन सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति दूसरों से सुख पाना चाहता है वैसे ही दूसरे भी उससे सुख पाना चाहते हैं, पर देना कोई नहीं चाहता है और यहीं पर संघर्ष प्रारंभ होता है जो क्लेश का कारण बनता है।" अष्टावक्र कहते हैं, "ज्ञानी पुरुष इच्छा मात्र का त्याग कर देता है। वह केवल अपनी आत्मा में रमण करता हुआ निर्मल चित्त वाला होकर शाश्वत सुख का उपभोग करता है।

"मान और अपमान की भावना अहंकार के कारण होती है। छोटे व्यक्ति में अहंकार तीव्र होता है, इसलिए उसके सामने हमेशा मान-अपमान का प्रश्न बना रहता है। दूसरी ओर ज्ञानी शून्यचित्त वाला होता है और वह सब कर्म सहज भाव से करता है। वह न तो प्रशंसा का आकांक्षी होता है और न ही अपमान से प्रभावित होता है।"

अष्टावक्र कहते हैं, "आत्मज्ञानी भी अज्ञानी की भाँति ही सांसारिक कर्म करता है, पर जहाँ एक ओर अज्ञानी अहंकारी होने के कारण सभी अच्छे-बुरे कर्मों का भार अपने ऊपर ले लेता है और फलाकांक्षी बन जाता है वहीं दूसरी ओर ज्ञानी यह मानता है कि यह कर्म शरीर द्वारा किया गया है और वह कर्म से लिप्त नहीं होता है।"

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि ज्ञानी सामान्य जन की तरह काम करता है, खाना-पीना, व्यवहार करता है, पर वह होता असामान्य है। इसके विपरीत अज्ञानी असामान्य कार्य भी करता है, पर सामान्य ही बना रहता है। गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता है, पर उसकी निगाह मुरदे पर होती है। बगुला एक टाँग पर खड़ा रहता है, पर तपस्या के दौरान भी उसकी नजर मछली पर ही रहती है। इसी प्रकार अज्ञानी के कर्म उच्च होते हुए भी उसकी दृष्टि क्षुद्र वासनाओं पर होती है। ज्ञानी और अज्ञानी के कहने और करने में अंतर होता है। ज्ञानी की पहचान ज्ञान से होती है, उसके कर्म से नहीं। दूसरी ओर अज्ञानी कर्म से पहचाना जाता है। अज्ञानी के कर्म मूढ़तापूर्ण होते हैं, जबकि ज्ञानी मूढ़ नहीं होता है और संसार में रहकर सुखपूर्वक जीता है और शोभायमान होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी जब संसार के भोगों से तृप्त हो जाता है, तब संन्यास का जन्म होता है। संन्यास संसार के अनुभवों का सार है। जो व्यक्ति बिना अनुभवों की प्राप्ति के संन्यास लेता है वह कच्चा है, कभी भी डगमगा सकता है। संन्यास कार्य नहीं है, अनुभव है, उत्कृष्ट जीवन की ओर

बढ़ा हुआ एक उद्यम है। ऐसा संन्यासी ही आत्मज्ञान का अधिकारी होता है और शांति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार बुद्धिजीवी अनेक प्रकार के विचारों में उलझा रहता है। वह संसार, कर्म, भोग, अध्यात्म, ईश्वर आदि के बारे में मनन करता है, शास्त्र पढ़ता है, सत्संग करता है, पर उसे शांति नहीं मिलती है। वह विचारों में और उलझता चला जाता है, क्योंकि सत्य तो एक ही है। असत्य अनेक हैं और सबके लिए अलग-अलग हैं। जो इन विचारों से थककर शांति को प्राप्त होता है, उसी को आत्मज्ञान होता है। यह उस मूढ़ को भी नहीं प्राप्त होता जिसने कभी विचार किया ही नहीं हो। आत्मज्ञानी एक आत्मा में स्थित हो जाने से न तो कल्पना करता है और न देखता-सुनता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि समाधि चित्त के विक्षेपों को शांत करने के लिए लगाई जाती है और ज्ञानप्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति लगाया करते हैं, पर आत्मज्ञानी के चित्त में विक्षेप तो शांत हो ही जाते हैं, उसे इन सब साधनों की जरूरत नहीं होती है और वह संसार को कल्पित देखता हुआ ब्रह्मवत् रहता है।

अज्ञानी जब अपने कर्मों को रोकता है तब वह कुछ पाने की इच्छा से ही ऐसा करता है। योजनाएँ उसके मन में बनती ही रहती हैं। सद्-असद् वृत्तियाँ मौजूद रहती हैं। अतः वह कर्म नहीं करता हुआ भी कर्म करता है, जबकि आत्मज्ञानी शरीर द्वारा किए जा रहे कर्मों में लिप्त नहीं होता है और कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता है, सिर्फ अपने आपको निमित्त मात्र समझता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि मुक्त पुरुष का चित्त हर प्रकार के द्वंद्वों से रहित हो जाता है। वह उद्वेगरहित, संतोषरहित, कर्तव्यरहित, स्पंदरहित, आशारहित, संदेहरहित हो जाता है। वह अहंकार या चित्त की वृत्तियों के आवेश में आकर कोई काम नहीं करता है। उसके सारे कार्य निश्चित, विवेकपूर्ण एवं स्वभावानुकूल होते हैं। ऐसा ज्ञानी संसार में शोभायमान होता है।

अज्ञानी किसी निमित्त को ध्यान में रखकर ही ध्यान या चेष्टा करता है, पर ज्ञानी पुरुष को फलप्राप्ति की आकांक्षा नहीं होती है। वह यदि ध्यान भी करता है और कर्म भी, तो बिना किसी हेतु के करता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि मंदबुद्धि व्यक्ति सिर्फ शरीर-पोषण में लगा रहता है। इंद्रिय-भोगों के अलावा किसी और विषय में रुचि नहीं लेता है। यदि उसे यथार्थ तत्त्व का बोध कराया जाए तो भी उसकी मूढ़ता में कोई अंतर नहीं पड़ता है। तत्त्वबोध का अति सूक्ष्म विवेचन स्थूल बुद्धि की समझ से परे है। उसका चित्त अहंकार, वासना, तृष्णा आदि से परिपूर्ण होता है और वह तत्त्वबोध को

www.tantrik-astrologer.in

भी विकृत रूप में देखता है। यह ऐसे ही होता है, जैसे जहर में अमृत मिलाने से अमृत भी जहर हो जाता है। इसके विपरीत कई बार ज्ञानी मूढ़वत् दिखाई पड़ता है, पर वह स्वचेतना को पहचानकर समाधि को उपलब्ध हो जाता है। वह मूढ़वत् व्यवहार इसलिए भी करता है कि ज्ञान-प्रदर्शन से अहंकार बढ़ता है और उसके कार्य में बाधा उत्पन्न होती है।

अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध के लिए अनेक प्रकार के प्रयास करता है, पर देर-सबेर विषयों के पीछे फिर भागने लगता है। दूसरी ओर ज्ञानी के चित्त की सभी वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। उसे कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता है। वह सोए हुए व्यक्ति की भाँति अपने स्वभाव में स्थित रहता है। उसके लिए चेष्टापूर्वक करने योग्य कुछ भी नहीं रहता है।

अष्टावक्र आत्मज्ञान-प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि चित्त की अनेक वृत्तियाँ हैं और एक-एक को छोड़ने से कोई सफलता नहीं मिलती है। ये सभी वृत्तियाँ करने के बावजूद नए-नए रूपों में प्रकट होती रहती हैं। इसलिए अज्ञानी पुरुष चाहे कितनी भी साधना क्यों न करे, निवृत्ति को प्राप्त नहीं होता है। दूसरी ओर ज्ञानी आत्मतत्त्व को निश्चयपूर्वक जानकर निवृत्त हो जाता है। उसे अपनी वृत्तियाँ शांत करने के लिए कोई साधना या प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि संसार में अनेक लोग आत्मा को जानने के लिए अनेक प्रकार के अभ्यास, जैसे–योग, साधना, संन्यास करते हैं। पर ये लोग असफल रहते हैं, क्योंकि इन अभ्यासों से अहंकार बढ़ता है और चित्त की वृत्तियाँ शांत होने के बजाय और विद्रोह करती हैं। संसार का आकर्षण ऐसा है कि वह मन को बाहर की ओर ही ले जाता है। अभ्यास से वृत्तियाँ और दृढ़ हो जाती हैं, जिससे अभ्यास भी बंधन बन जाता है और इससे व्यक्ति को शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपंचरहित, दुःखरहित आत्मा को जानने में व्यवधान होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मा हमारा स्वभाव है, उसे जानना मात्र है। आत्मा के ज्ञान से स्वतः ही ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, उसकी सभी भ्रांतियाँ मिट जाती हैं और बंधन टूट जाते हैं। यही मुक्ति है, पर दूसरी ओर अज्ञानी पुरुष अभ्यास करके इन बंधनों को काटना चाहते हैं; पर ये बंधन भ्रम मात्र हैं, इसलिए अभ्यास से नहीं कटते हैं। दरअसल मोक्ष है स्व के सागर में डुबकी लगाना। अभ्यास तैरने के लिए करना पड़ता है, डूबने के लिए नहीं। ज्ञानी पुरुष

www.tantrik-astrologer.in

के लिए कोई भी अभ्यास आवश्यक नहीं रह जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि एक सिंह का बच्चा भेड़ों के समूह में पलकर अपने को भेड़ ही समझने लगता है। जब वह अपना चेहरा देख लेता है और खून के स्वाद को चख लेता है तो उसकी भ्रांति मिट जाती है और सिंहत्व जाग जाता है। उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञानी को अपना स्वरूप मात्र जान लेने से समस्त भ्रांतियाँ मिट जाती हैं। वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जीव ब्रह्म ही होता है, उसे बनने की आवश्यकता नहीं होती है। यदि सिंह भेड़ ही होता तो लाख अभ्यास करने से भी वह सिंह नहीं बन पाता।

अष्टावक्र कहते हैं कि विचारों, वासनाओं, कामनाओं के कारण जो राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, निंदा, हिंसा, तृष्णा, मोह आदि का संसार रचा गया है वह आधाररहित है। यह सब माया भ्रमपूर्ण है, दुराग्रहपूर्ण है। हमारे झूठे आग्रहों से ही संसार में दुःख-सुख, हर्ष-विषाद का अनुभव होता है। अज्ञानियों द्वारा रचे गए इस दुराग्रहपूर्ण संसार का मूलोच्छेद ज्ञानी करते हैं। वे अनर्थ के मूल से संबंधविच्छेद करके आत्मा से संबंध जोड़ लेते हैं, जो सुख और शांति का कारण है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि अज्ञानी शांत होने के लिए प्रयत्न करता है। शांत होने की इच्छा करने से भी मन में अशांति फैलती है। शांति तभी मिलती है जब चित्त विक्षेपरहित हो जाए और तभी आत्मज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञानी सब प्रकार के द्वंद्व से रहित होकर समभाव में स्थित हो जाता है और आत्मा का अनुभव करता रहता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी पुरुष भौतिक पदार्थ को देखता है। उसकी इंद्रियाँ सिर्फ स्थूल को ही देख पाती हैं और उन्हीं के पीछे भागता रहता है। दूसरी ओर ज्ञानी पुरुष दृश्य पदार्थों के बजाय अविनाशी आत्मा को देखते हैं, जिससे सारा जगत् दृश्यमान हो जाता है।

अज्ञानी हठपूर्वक चित्त का निरोध करते हैं, पर इनसे मन और मजबूत होता है तथा अहंकार और दृढ़ हो जाता है। इससे अज्ञानी को शांति कतई नहीं मिल सकती। दूसरी ओर ज्ञानी आत्मा को जान लेता है और उसी में रमण करता है। उसके चित्त का निरोध अपने आप ही हो जाता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा है। ये लोग आस्तिक कहलाते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि परमात्मा नहीं है। ये लोग नास्तिक कहलाते हैं। दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि परमात्मा इतना विराट् है कि यह क्षुद्र

बुद्धि उसे न तो जान सकती है और न वाणी वर्णन कर सकती है। इसलिए ज्ञानी तटस्थ रहता है और शांति का अनुभव करता है। तर्क से विवाद पैदा होता है और हल नहीं निकलता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि कुबुद्धि पुरुष चाहे कितनी भी भावना कर लें कि आत्मा है, परमात्मा है, संसार मिथ्या है, पर इनसे उन्हें सुख नहीं मिलेगा, क्योंकि उनका संसार के प्रति मोह बना रहता है। इसलिए वे आत्मसुख से वंचित रहते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि मन सहारा चाहता है। जब उसे परमात्मा का सहारा मिल जाता है तो वह तृप्त हो जाता है। बुद्धि भी आलंबन चाहती है। इसीलिए मोक्ष चाहने वाला व्यक्ति पूजा-पाठ, यज्ञ, पंडित, शास्त्र, मंदिर, परमात्मा आदि का सहारा लेकर चलता है। पर जब तक सहारा है तब तक मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि सहारा भी बंधन है। उद्देश्यप्राप्ति के बाद सभी सहारे, सभी आलंबन छोड़ देने पड़ते हैं, तभी व्यक्ति निष्काम और निरालंब होता है। बुद्धि और मन की यह अवस्था ही मुक्ति है।

अष्टावक्र कहते हैं कि आम सांसारिक व्यक्ति विषयों को भोगकर क्षणिक तृप्ति का अनुभव करता है। वह सुख-दुःख, हर्ष-विषाद को भाग्यवश समझकर भोगता रहता है। पर जब मनुष्य में आत्मज्ञान की वासना तीव्र हो जाती है तब वह इन विषयों को बाघ के समान समझने लगता है और इनसे बचने के लिए किसी पहाड़ की गुफा में एकांत ढूँढ़ता है। वह समझता है कि संसार से भाग जाने से या एकांत में रहने से चित्त का निरोध स्वयं हो जाएगा और आत्मज्ञान की प्राप्ति भी हो जाएगी, पर यह उसका भ्रम मात्र है। संसार छोड़ देने से या इंद्रियों के निरोध से वासनाएँ समाप्त नहीं होंगी।

दूसरी ओर वासनारहित व्यक्ति सिंह के समान होता है। उसे देखकर विषय रूपी हाथी स्वयं भाग जाते हैं या इतने असमर्थ हो जाते हैं कि एक चाटुकार सेवक की भांति उसकी सेवा करते हैं। अज्ञानी वासनाग्रस्त होकर विषयों को भोगते हैं, जबकि ज्ञानी अपने विवेक के अनुसार उनका उपभोग करते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पाँच नियम हैं, योगी जिनका आग्रहपूर्वक पालन करता है, पर ज्ञानी व्यक्ति का यह स्वभाव ही हो जाता है। ज्ञानी व्यक्ति बिना किसी आग्रह के सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना जैसे कार्य करता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि आचार-अनाचार, उदासीनता-कर्मठता अज्ञानियों

के लिए होती है। आत्मज्ञान-प्राप्ति के बाद व्यक्ति स्वस्थ चित्त वाला और शुद्ध बुद्धि वाला हो जाता है। उससे जो कर्म होंगे वे पूर्ण जागरूकता एवं विवेक से होंगे। उनमें स्वार्थ-वासना एवं अहंकार आदि न होने से जो भी कार्य होगा वह स्वस्थ ही होगा। विकार आ ही नहीं सकता है।

अष्टावक्र ज्ञानी व्यक्ति को बालक समान बताते हुए कहते हैं कि दोनों अपने स्वभाव में जीते हैं। बालक मन के स्वभाव में जीता है और सारी इच्छाएँ पूरी करना चाहता है। शुभ-अशुभ का भेद उसमें नहीं होता है। उसकी बुद्धि का विकास नहीं होने के कारण बुद्धि भेद नहीं कर पाती है। दूसरी ओर ज्ञानी मन से नहीं, आत्मा के स्वभाव में जीता है। मन और बुद्धि से परे होकर वह विवेक से कार्य करता है और शुभ-अशुभ का भेद न करते हुए जो आवश्यक होता है बालक के समान कर लेता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि तृष्णा, अहंकार, कामना आदि मनुष्य के लिए दरअसल बंधन हैं और उसे विषयों का गुलाम बना देते हैं। आत्मज्ञानी उनसे पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है और सुखी रहता है। इस कारण वह परम पद प्राप्त करता है।

मनुष्य अहंकार के कारण स्वयं को परमात्मा से भिन्न मानने लगता है। वह अपने आपको कर्ता और भोक्ता मानने लगता है। जब वह आत्मरूप में स्थित हो जाता है तब न कर्ता रहता है और न भोक्ता। उससे न तो पाप होता है और न पुण्य। आत्मज्ञान से उसकी सारी चित्तवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी के मन में स्पृहा, वासना रहती है। यदि वह यह कहे कि मैंने आधा घंटा ध्यान कर लिया, दस माला गायत्री की जप लीं, किसी आश्रम में एक घंटा बैठ आया और शांति मिल गई तो यह शांति पाखंड है। दूसरी ओर ज्ञानी स्पृहा-मुक्त हो जाता है। उसे स्वाभाविक शांति मिल जाती है। इसके बाद वह उच्छृंखलता भी दिखाता हो तो वह शोभा ही पाता है, क्योंकि उसमें कोई विकार नहीं होता है।

जब ज्ञानी की स्पृहा, वासना शांत हो जाती हैं तो उसके बाद वह बड़े-बड़े भोग भी भोगता है, पर उनमें वह लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह इन्हें खेल की तरह साक्षी भाव से भोगता है। वह चाहे तो पहाड़ की कंदराओं में भी रह सकता है, क्योंकि यहाँ भी वह समभाव से ही रहता है। बंधनमुक्त ज्ञानी आत्मा में रमण करने वाला स्वच्छंदाचारी होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी में स्पृहा होती है, वासना होती है, जिनकी

www.tantrik-astrologer.in

पूर्ति के लिए वह पंडितों के पास जाता है। धन, यश, पुत्रादि की प्राप्ति के लिए देवताओं की पूजा-अर्चना करता है। पाप धोने के लिए तीर्थों की यात्रा करता है। स्त्री देखकर काम-मोहित हो जाता है और राजा की चाटुकारिता करता है। दूसरी ओर ज्ञानी पुरुष को उपरोक्त किसी चीज से लगाव नहीं होता है। वह किसी से कुछ पाने की इच्छा नहीं रखता है, सिर्फ अपना कर्तव्य करता है।

अज्ञानी अहंकारी होता है। जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती है तो उसे क्रोध आता है। यदि उसकी पत्नी, पुत्र, दौहित्र, नौकर-चाकर उसका सम्मान न करें तो उसे कष्ट होता है। दूसरी ओर ज्ञानी अहंकाररहित हो जाता है और बांधव-जनों द्वारा धिक्कारे जाने पर भी विकारग्रस्त नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष अंदर से संतुष्ट होता है। उसकी न तो कोई चाह होती है और न वासना। उसके पास पाने के लिए कुछ बचा नहीं होता है, पर वह अपने चेहरे पर संतुष्टि-असंतुष्टि का भाव नहीं आने देता है। उसके बाहरी कर्मों को देखकर उसकी आंतरिक स्थिति का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता है। उसकी भीतरी अवस्था का ज्ञान किसी वैसे ही ज्ञानी को हो सकता है।

www.tantrik-astrology.in

अष्टावक्र कहते हैं कि यह कर्तव्य ही संसार है। जो संसार में रहता है उसे करने योग्य कार्य अर्थात् कर्तव्य करने ही पड़ते हैं। ज्ञानी पुरुष भी कर्तव्य करते हैं, पर उनमें वैसी कर्तव्यता नहीं होती है जैसी संसारी व्यक्ति में होती है। संसारी अच्छा-बुरा, निंदा-प्रशंसा आदि को ध्यान में रखकर कर्तव्य करता है। उसमें संकल्प भी होता है और अहंकार भी। दूसरी ओर ज्ञानी अहंकाररहित और वासनारहित होने के कारण मुक्त होता है। वह शून्याकार, निराकार, निर्दोष और दु:खरहित होता है। वह संसार को कर्तव्य की भाति नहीं वरन् एक अभिनेता की भाँति देखता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि कई बार अज्ञानी किंसी से तत्त्वबोध के बारे में सुनकर सांसारिक कार्य त्याग देते हैं, पर इन कर्मों के छोड़ देने से भी उसके मन के विक्षोभ, संकल्प-विकल्प आदि नहीं समाप्त होते हैं, क्योंकि वह कुछ पाने की लालसा से कर्म छोड़ता है। वह अशांत बना रहता है। दूसरी ओर ज्ञानी पुरुष सभी प्रकार के सांसारिक कर्म करता है, पर चूँकि उसके चित्त के सभी विक्षेप शांत हो जाते हैं, इसलिए कभी अशांत नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि मनुष्य का बाह्य व्यवहार उसके चित्त में चल रही हलचल का प्रक्षेपण है। अशांत मन वाला व्यक्ति अपनी हर गतिविधि बैठने,

आने-जाने, बोलने, खाने-पीने में अशांति का ही अनुभव करता है। कभी वह बैठे-बैठे हाथ-पैर हिलाता है तो खाते-खाते कुछ सोचने लगता है। कभी वह पैर पटककर चल देता है। दूसरी ओर ज्ञानी पुरुष का चित्त शांत होता है। वह अपनी हर गतिविधि बैठने, खाने, आने-जाने में सुख का अनुभव करता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी भी अज्ञानियों की तरह हर प्रकार के सांसारिक कर्म करते हैं, पर ज्ञानी इन कर्मों से अलिप्त होते हैं। इसलिए उनका व्यवहार आम मनुष्य से भिन्न होता है। जैसे महासरोवर शांत दिखाई देता है, वैसे ही ज्ञानी भी क्लेशरहित होता है और संसार में शोभता है।

अष्टावक्र प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि अज्ञानी भी संसार छोड़कर जंगल में चले जाते हैं। वे भी हीरे-जवाहरात छोड़कर संन्यासी हो जाते हैं, पर उनके मन में कुछ पाने की कामना होती है, आसक्ति होती है, इसलिए उनकी निवृत्ति भी एक किस्म की प्रवृत्ति ही है। दूसरी ओर अहंकार और आसक्तिरहित ज्ञानी पुरुष संसार में प्रवृत्त तो रहता है, पर उसकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की कसौटी भीतरी वासना है।

वैराग्य की व्याख्या करते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि परिग्रह अर्थात् धन-संपत्ति, घर-बार, राज्य-महल आदि त्यागने से वैराग्य नहीं होता है, क्योंकि कुछ पाने की इच्छा से किया गया त्याग वैराग्य नहीं होता है। दूसरी ओर ज्ञानी तो आत्मा में रमण करता है। वह इस संसार, संपत्ति आदि को क्षुद्र, नाशवान और क्षणिक मानता है। वह परिग्रह को पाप नहीं समझता और यथास्थिति में सुखपूर्वक रहता है। उसके लिए राग और वैराग्य दोनों ही अप्रासंगिक हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि मूढ़ पुरुष हमेशा इसी चिंता में लगा रहता है कि उसके पास कितना है और कितने का अभाव है। वह अभावों की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के छल-प्रपंच, तिकड़म, झूठ आदि का सहारा लेता है और जो है उसकी रक्षा में जुटा रहता है। वह अपने इन्हीं लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कोल्हू के बैल की तरह इर्द-गिर्द चक्कर लगाता रहता है। वह न उन्हें सुखपूर्वक भोग पाता है और न त्याग पाता है। दूसरी ओर ज्ञानी पुरुष भाव-अभाव की चिंता नहीं करता है। हालाँकि उसके पास भी भाव-अभाव होते हैं, पर उसकी दृष्टि उन पर नहीं जाती है।

अष्टावक्र कहते हैं कि कर्म बंधन नहीं है। बंधन हैं—कामना, आसक्ति, अहंकार। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों कर्म करते हैं। अज्ञानी के कर्मों में आसक्ति, कामना होती है और फलाकांक्षा रहती है, जो बंधन का कारण बनती है। दूसरी

ओर ज्ञानी के कर्म स्वभाव से होते हैं। वह बालक की तरह काम करता है और फल की आकांक्षा नहीं करता है। कामनारहित होकर किए जाने वाले कर्मों में वह लिप्त नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञान में दो ही मुख्य बाधाएँ हैं—शरीर और मन। अज्ञानी की सारी गतिविधियाँ इन दोनों से संचालित होती हैं। ज्ञानी इन दोनों के परे एक तीसरी शक्ति को भी जान लेता है, जो इन सबका साक्षी है और सत्य तथा शाश्वत है। जो व्यक्ति इस मन की वैतरणी पार कर जाता है वह आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है और धन्य हो जाता है। आत्मतत्त्व का अनुभव कर लेने वाले व्यक्ति सभी कर्मों को करते हुए, देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, खाते हुए हमेशा एकरस रहते हैं।

अष्टावक्र ज्ञानी पुरुष की तुलना आकाश से करते हुए कहते हैं कि वह आकाश की भाँति स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष, निर्विकल्प होता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए न तो कोई साधना रह जाती है और न ही साध्य, न स्वर्ग न मोक्ष, न आत्मा और न परमात्मा। उसे जहाँ पहुँचना था, पहुँच गया। परम उपलब्धि को पाकर वह निर्विकल्प हो जाता है।

अष्टावक्र संन्यास और समाधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति के लिए संन्यास प्रारंभ है। इस दौरान उसे विद्यालय के विद्यार्थी की तरह अनुशासन, स्वच्छ आचरण आदि का पालन करना पड़ता है। पर समाधि—जो अंतिम अवस्था है और जहाँ आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है और मनुष्य पूर्णानंदस्वरूप हो जाता है—में नियम-संयम और अनुशासन की आवश्यकता नहीं होती है। ये नियम-संयम मन को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक होते हैं और ज्ञान-प्राप्ति के बाद मन स्वयं नियंत्रित हो जाता है। समाधि में वह आत्मा में रमण करता है। यह सहज (अकृत्रिम) समाधि है और निरंतर चलती रहती है। कुछ हठयोगी साँस रोककर कई दिन जीवित रह लेते हैं, पर इसका आत्मा से कोई संबंध नहीं होने के कारण यह कृत्रिम समाधि ही होती है। सिर्फ सहज समाधि लगाने वाले संन्यासी को विजय प्राप्त होती है।

अष्टावक्र कहते हैं कि अधिक विस्तार से समझाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानी महाशय भोग की अवस्था में भी और मोक्ष की अवस्था में भी निराकांक्षी हो जाते हैं। वह हर समय और जगह रागरहित रहते हैं। मानसिक सृष्टि का आरंभ और अंत इसी आत्मतत्त्व से है। भौतिक सृष्टि का आरंभ और

www.tantrik-astrologer.in

अंत इसी ब्रह्मतत्त्व से है। सिर्फ अहं के कारण भिन्नता महसूस होती है अन्यथा अहं की समाप्ति पर सर्वत्र एकत्व का अनुभव होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि रूप, रंग, गुण आदि के कारण संसार में जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं वे भ्रांति के कारण दिखाई देती हैं। एक ही चैतन्य ब्रह्म विभिन्न क्रिया रूपों में प्रकट होता है, जिसे महत, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंच महाभूत आदि कहते हैं। ये नाममात्र को ही भिन्न हैं। इस भ्रांति अथवा अज्ञान के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है। इस अज्ञान को मिटाने के लिए अनेक प्रकार की साधनाएँ, योग, भक्ति आदि करता है। पर जिसे आत्मबोध हो जाता है, वह परम तत्त्व को जान लेता है तथा द्वैत जगत् छोड़कर अद्वैत आत्मा में स्थित हो जाता है। अहंकार और वासना के कारण संसार में जितने संबंध, अधिकार, दावे उसने विकसित किए थे वे सब छूट जाते हैं। इसके बाद ज्ञानी के लिए कोई कार्य शेष नहीं रह जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञान के बाद व्यक्ति शांत हो जाता है। उसे शांति के लिए जप, तप, नियम, हठयोग, शीर्षासन आदि नहीं करना पड़ता है, क्योंकि ज्ञान की अवस्था में उसे पूरा जगत् प्रपंच जैसा लगता है। अज्ञान की स्थिति में चित्त की शांति के लिए किए जाने वाले विधि-विधान मनुष्य को अशांति की ओर बढ़ाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के बाद सत्य-स्वरूप प्रकट होता है और ज्ञानी शांत चित्त वाला हो जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि परमात्मा का कोई कारण नहीं है। वही सबका कर्ता है। उसे किसी ने नहीं बनाया, बल्कि उसी ने सबको बनाया। अध्यात्म के अनुसार मूल तत्त्व एक ही है, जो ब्रह्म कहलाता है और सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है। पूरी सृष्टि उस शक्ति का सहज स्फुरण है और यह अपने आप हो रहा है। इसीलिए इसे लीला या खेल कहा जाता है। इसमें चिड़िया चहचहाती है, मोर नाचते हैं, बच्चे उछलते-कूदते हैं, फूल खिलते हैं। मूढ़ व्यक्ति समझते हैं कि परमात्मा ने संसार को इसलिए बनाया कि वह मुक्त हो सके, अपने पाप धो सके। इसलिए वह तरह-तरह के उपाय करता है। दूसरी ओर ज्ञानी के लिए कोई उपाय शेष नहीं रहता है। उसे न वैराग्य की जरूरत है न त्याग की। वह परम शांत अवस्था में रहता है और इसके लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि यह संपूर्ण सृष्टि आत्मा का स्फुरण मात्र है, जो अनंत रूपों में स्फुरित हुई है। चेतन तत्त्व आत्मा सूक्ष्म रूप से इसमें व्याप्त है।

अज्ञानी इस स्थूल प्रकृति को देख-देखकर लुभायमान होता है और इसी को सबकुछ समझता है। यह धारणा उसके लिए बंधन का कारण बनती है। दूसरी ओर ज्ञानी इस जड़ प्रकृति को माया रूप समझकर उसके कारण आत्मा को देखता है। उसके लिए प्रकृति बंधन नहीं बनती है और जब बंधन नहीं तो मोक्ष की उसे क्या आवश्यकता है? दूसरी ओर सारे हर्ष और शोक प्रकृतिजन्य हैं और स्वयं को मन और शरीर समझने के कारण हैं। चेतना को उपलब्ध हुए ज्ञानी को न तो हर्ष है और न ही शोक।

अष्टावक्र कहते हैं कि इस संसार में मोह-ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा आदि विद्यमान हैं। अज्ञानी इस संसार को सत्य मानकर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। बुद्धि से अनेक विचार पैदा होते हैं। यह मन को संतुष्ट करने के लिए कार्य करती है। अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य का भेद करती है। बुद्धिपर्यंत संसार में माया ही माया है। सत्य कहीं नहीं है। सत्य तो सिर्फ आत्मा है। ज्ञानी आत्मा को जानने के बाद ममतारहित, अहंकाररहित एवं कामनारहित हो जाता है। उसे वासनामय जगत् प्रभावित नहीं कर पाता है। ऐसा मनुष्य संसार में शोभायमान होता है।

www.tantrik-astrologer.in

अष्टावक्र कहते हैं कि परमात्मा ऊर्जा का सागर है। समस्त सृष्टि इसी ऊर्जा की अभिव्यक्ति मात्र है। शरीरस्थ आत्मा भी वही ऊर्जा है। जिस ज्ञानी ने इस अविनाशी संतापरहित आत्मा को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया और सब कुछ पा लिया। उसके लिए विद्या-अविद्या, ज्ञान-संसार, देह, अहंता-ममता आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। ये सब अज्ञानजनित होने के कारण अज्ञानी को ही प्रभावित करते हैं। आत्मज्ञानी को ये भ्रांतियाँ प्रभावित नहीं करतीं।

अष्टावक्र कहते हैं कि मनुष्य के समस्त कर्म, व्यवहार व आचरण चित्त की वृत्तियों का प्रक्षेपण मात्र है। जैसा उसका मन होगा, वैसे ही उसके कर्म और आचरण होंगे। जब वह अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध योग आदि से करता है तो उसके चित्त की चंचलता और बढ़ जाती है, क्योंकि इस निरोध में अपेक्षाएँ, कामनाएँ छुपी रहती हैं। जब मूढ़ व्यक्ति इन कर्मों को छोड़ता है तो उसके पीछे मनोरथ होता है और वह आकांक्षाओं को पूरा करने में जुट जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि यदि मूढ़ व्यक्ति तत्त्व-ज्ञान सुन भी लेता है तो भी वह अपने भीतर स्थित अहंकार, कामना, वासना आदि नहीं छोड़ता और आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने बाहरी प्रयत्नों में भले ही

निर्विकल्प हो जाए और ज्ञानियों की तरह कर्म करने लगे, पर उसके मन में विषयों के प्रति लालसा बनी रहती है। मंदबुद्धि गूढ़ तत्त्व को समझने में अक्षम होते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि कर्म तो ज्ञानी भी करते हैं और अज्ञानी भी, पर ज्ञानी के कर्म स्वभाव से होते हैं, लोकहितार्थ होते हैं, आवश्यक और नैमित्तिक होते हैं। वह कर्म को ईश्वरेच्छा समझकर करता है। वह कभी कहता भी नहीं है कि मैंने ऐसा किया या वैसा किया। उसका अहंकार समाप्त हो जाता है। यही कर्म की कुशलता है, जिसे केवल ज्ञानी ही उपलब्ध होता है

अष्टावक्र कहते हैं कि चित्त में वृत्तियाँ होती हैं, वासनाएँ और कामनाएँ होती हैं। अनेक जन्मों में जो कुछ मिला है उसी का संगृहीत नाम चित्त है। बुद्धि इनका सद् और असद् में विभाजन करती है। बुद्धि के कारण सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा, हिंसा-अहिंसा, प्रकाश-अंधकार, त्याग-ग्रहण आदि के भेद की समझ आती है। अस्तित्व में ये भिन्न नहीं हैं। ये सिक्के के दो पहलू हैं, जो रहेंगे तो दोनों ही रहेंगे। यदि मृत्यु हटा दी जाए तो जन्म भी नहीं रहेगा। यदि घृणा हटा दी जाए तो प्रेम का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। नैतिक व्यक्ति दोनों में भेद रखता है। वह अंधकार को हटाकर प्रकाश लाना चाहता है। धार्मिक व्यक्ति सबकुछ ईश्वरीय मानकर दोनों को स्वीकार कर लेता है। ज्ञानी व्यक्ति उस एक आत्मा को जानकर सर्वदा निर्भय और निर्विकार हो जाता है। वह प्रकाश-अंधकार, ग्रहण-त्याग में भेद नहीं समझता है। स्वभाव से जो होता है कर लेता है और परमानंदस्वरूप आत्मा में स्थित रहता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि निर्भयता वहीं होती है जहाँ भय होता है। विवेक भी वहीं होता है जहाँ मूढ़ता होती है। धैर्य भी वहीं होता है जहाँ व्याकुलता होती है। योगी जिसने परम रस को जान लिया वह उसी में निमग्न रहता है। उसका स्वभाव अनिर्वचनीय हो जाता है। वह सभी द्वंद्वों से पार एकरस हो जाता है। वह न सिद्धांतों में जीता है और न आदतों में। वह स्वभावरहित हो जाता है। आत्मा के स्वभाव के अनुकूल चलते हुए पूर्ण स्वतंत्रता का उपयोग करता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि योगी केवल आत्मा को मानता है। सारी सृष्टि भ्रम है। स्वर्ग, नरक, जीवन्मुक्ति सभी भ्रम हैं, जो अज्ञान, अहंकार और वासना के कारण प्रतीत होते हैं। जब अहंकार और वासना समाप्त हो जाते हैं तो केवल एक आत्मा ही शेष रह जाती है और यही सत्य है। वासना और अहंकार से मुक्त पुरुष ब्रह्म ही है। जीवात्मा का यही सर्वोच्च शिखर है और योग की यही

मान्यता सर्वोपरि है।

अष्टावक्र कहते हैं कि द्वैतवादी धर्म ईश्वर को जीव से भिन्न मानता है। इसलिए जीव प्रार्थना करता है, कृपा की भीख माँगता है। वह अपने आपको निर्बल, अशक्त, अज्ञानी, पापी समझता है और ईश्वर को सर्वशक्तिमान, दयालु, स्रष्टा, सहायक मानता है। वह लाभ के लिए प्रार्थना करता है और हानि से डरता है। पर अद्वैतवादी योगी सृष्टि से भिन्न किसी ईश्वर को नहीं मानता है। आत्मा को पहचानने के बाद वह 'मैं ही ब्रह्म हूँ' मानने लगता है। ऐसा योगी आत्मा के परमानंद में सर्वदा निमग्न रहता है। उसके चित्त से क्षुद्र वासनाएँ, अहंकार आदि छूट जाते हैं और आत्मा रूपी अमृत से पूरित हो जाने से वह शांत और शीतल हो जाता है। विराट् हासिल कर लेने के कारण वह क्षुद्र लाभ के लिए न तो प्रार्थना करता है और न हानि की चिंता करता है।

निष्काम पुरुष के लक्षण बताते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि जिस व्यक्ति के भीतर जो कुछ भरा होता है वही बाहर निकलता है। यदि अंदर प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा आदि भरा होगा तो वह व्यक्ति लोगों की प्रशंसा करेगा, सहायता करेगा, मानव-सेवा करेगा, कुछ नहीं तो आशीर्वाद ही देगा। पर जिस व्यक्ति के भीतर घृणा, हिंसा, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि भरा होगा—वह लोगों की निंदा करेगा, झगड़ा करेगा, जिद करेगा। जो व्यक्ति काम से पीड़ित होता है वह काम को बुरा-भला कहता है। धन नहीं मिलने पर व्यक्ति उसे पाप कहने लगता है। दरअसल निंदा और प्रशंसा दोनों वासना और स्वार्थ के कारण ही होते हैं। आत्मज्ञानी के चित्त की सारी वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। वह न निंदा करता है और न ही प्रशंसा करता है। वह समभाव वाला हो जाता है। वह तृप्त, सुखी और शांत हो जाता है। साक्षी-भाव धारण करने के कारण वह अकर्ता हो जाता है।

ज्ञानी व्यक्ति का संसार से कोई राग नहीं होता है। अपेक्षाएँ न होने के कारण कोई द्वेष भी नहीं होता है। उसके लिए संसार अर्थहीन होता है और अर्थहीन वस्तु से कोई द्वेष नहीं करता है। इसी प्रकार वह आत्मा को देखने की कोशिश भी नहीं करता है। आत्मा अदृश्य है। उसका सिर्फ बोध हो सकता है। देखने की इच्छा रखना भी एक तरह की वासना है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से जीवित जैसा भी नहीं रहता है, क्योंकि उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ, आपाधापी सब समाप्त हो जाती हैं, पर वह मरे हुए जैसा भी नहीं होता है, क्योंकि वह न तो अकर्मण्य होता है और न आलसी होता है। वह न करते हुए भी बहुत कुछ

www.tantrik-astrologer.in

करता है।

ज्ञानी पुरुष अपने पुत्र, स्त्री आदि के प्रति स्नेह तो रखता है, पर उनके प्रति उसकी कामनाएँ, वासनाएँ और पागलपन समाप्त हो जाता है। वह अपने शरीर की रक्षा तो करता है, पर उसकी चिंता में निमग्न नहीं रहता है। स्वाभाविक रूप से अनाग्रहपूर्वक जो होता है, उसे स्वीकार कर लेता है। वह सभी प्रकार की आशाओं से मुक्त हो जाता है। स्नेह, कर्म आदि के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठा हुआ ज्ञानी संसार में शोभा पाता है।

अष्टावक्र ज्ञानी पुरुष का वर्णन करते हुए कहते हैं कि परम को प्राप्त कर लेने वाला ज्ञानी क्षुद्र की कामना से मुक्त हो जाता है। वह कर्म करता है पर फलाकांक्षा नहीं करता है। कर्म के फलस्वरूप जो मिल जाए, उसी से अपनी जीविका चला लेता है। ज्ञानी स्वनिर्भर होता है। वह भोजन के लिए भी दूसरों पर निर्भर नहीं होता है। जो मिल जाए उसी को प्रेमपूर्वक खा लेता है। वह स्थान विशेष से नहीं बँधता है और स्वच्छंद विचरण करता है। जब सूर्यास्त हो जाता है तो जैसी भी स्थिति हो चिंतानिमग्न होकर सो जाता है। वह किसी नियम से नहीं बँधता है और सर्वत्र संतुष्ट रहता है।

इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी पुरुष सांसारिक नियमों, बंधनों में न जीकर आत्मा के स्वभाव में जीता है। वह संसार को विस्मृत कर देता है। उसकी अपने शरीर के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। वह मृत्यु को भी आनंद के साथ ही स्वीकार करता है। दरअसल ज्ञानी मरता नहीं है; वह सिर्फ शरीर परिवर्तन करता है, क्योंकि उसका स्थायी निवास तो आत्मा है। वह उसी में लीन रहता है।

मनुष्य संसार, स्त्री, पुत्र, धन, नगर, देश, धर्म, जाति, वर्ण आदि संकीर्ण घेरों में बँधा रहता है। इसके पीछे उसका स्वार्थ निहित रहता है। उसकी दृष्टि भी संकीर्ण हो जाती है और वह इनसे बाहर की बात नहीं सोच पाता है।

संकीर्ण मान्यताओं, विचारों, सिद्धांतों और नियमों से बँधा व्यक्ति पिंजड़े के पंछी की तरह फड़फड़ाता है और उसी में प्राण त्याग देता है। दूसरी ओर ज्ञानी बंधनमुक्त होकर खुले आकाश में स्वच्छंद विचरण करता है। वह द्वंद्वों से दूर परम आनंद में रहता है। वह संशयरहित होता है। वह अपने आपको अकेला और अकिंचन मानता है और सभी का हो जाता है। आसक्तिरहित होने के कारण वह विराट् का सुख भोगता है और सभी भावों में रमण करता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि मनुष्य को मिट्टी, पत्थर और सोने में भेद इसलिए

मालूम होता है, क्योंकि उसके अंदर ममता है। वह सोने को मूल्यवान समझता है। अपनी आवश्यकताएँ पूरी करना बुरा नहीं है, पर आसक्ति के कारण अनावश्यक वस्तुओं का परिग्रह बुरा है। ज्ञानी स्वस्थेंद्रिय होता है। उसकी हृदय-ग्रंथि खुल जाती है। उसका रज और तम धुलकर शुद्ध सत्त्व बच जाता है। वह ममतारहित, आसक्तिरहित होकर निर्द्वंद्व हो जाता है। ऐसा व्यक्ति संसार में शोभायमान होता है।

वासनायुक्त व्यक्ति सब कुछ पाकर भी अतृप्त ही रहते हैं। बड़े शूरवीर राजा संसार जीतकर भी अतृप्त ही मर जाते हैं। बड़े-बड़े धनवान व्यक्ति अतृप्त मर जाते हैं। दूसरी ओर जिसकी वासना नष्ट हो जाती है वह हर हाल में तृप्त रहता है। वासनायुक्त व्यक्ति व्यवधानों में उलझा रहता है। दूसरी ओर वासनारहित व्यक्ति व्यवधानों से विचलित नहीं होता है और मुक्त ही रहता है। ऐसे ज्ञानी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। वह पूर्ण हो जाता है।

अज्ञानी जब देखता या बोलता है तो वह स्वार्थ से बँधा होता है और इसलिए उसकी गतिविधि में संकीर्णता होती है। वह जो नहीं जानता उसे भी जानने का दावा करता है और जो नहीं देख पाता उसे भी देखने का दावा करता है। आत्मा और परमात्मा को उसने न देखा है और न ही जाना है, पर वह रोज इनकी दुहाई देता है। दूसरी ओर ज्ञानी सब कुछ जान लेता है, पर फिर भी कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता। सब कुछ स्पष्ट और प्रत्यक्ष देखकर भी कहता है कि मैं कुछ नहीं देखता। जब बोलता है तो उसमें दुराग्रह बिलकुल नहीं होता है।

जीवन एक त्रिवेणी है जिसमें गंगा और यमुना तो प्रकट हैं, पर तीसरी सरस्वती गुप्त है। जीवन में शरीर और मन तो प्रकट हैं, पर तीसरी चेतना गुप्त है। अज्ञानी तो शरीर और मन तक सीमित रहते हैं, पर ज्ञानी चेतना को भी जान लेते हैं। मन के तल पर जीने वाले अज्ञानी सृष्टि को दो भागों में बाँट देते हैं और उन्हें सुख-दुःख, सज्जन-दुर्जन आदि दिखाई देते हैं। दूसरी ओर ज्ञानी मन को पार कर लेता है और समत्व बुद्धि वाला हो जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि जिसकी सब भावों में शोभन-अशोभन बुद्धि गलित हो गई है और जो निष्काम है, वह चाहे भिखारी हो या भूपति सर्व-शोभायमान होता है।

सृष्टि के मूल तत्त्व आत्मा को जानने वाला योगी निष्कपट, सरल और यथार्थ चरित्र वाला हो जाता है। उसके लिए स्वच्छंदता, संकोच और तत्त्व की निश्चय जैसी कोई धारणा नहीं होती। वह मानस तल की स्वच्छंदता और

www.tantrik-astrology.in

संकोच आदि से पार हो जाता है।

आत्मज्ञानी के अनुभवों के बारे में बताते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञान के बाद व्यक्ति तृप्त हो जाता है, निस्पृह (इच्छारहित) तथा शोकरहित हो जाता है। आत्मा में विश्राम कर रहे व्यक्ति के अनुभव अनूठे और सांसारिक अनुभवों से कतई भिन्न होते हैं। इनको समझाना या तर्क द्वारा साबित करना कठिन है, क्योंकि दूसरा व्यक्ति जो इस अनुभव से दूर-दूर तक परिचित नहीं है, इसे नहीं समझ सकता,इसीलिए ज्ञानी मौन हो जाते हैं। बोध होने के बाद पुरानी धारणाएँ, मान्यताएँ नष्ट हो जाती है। संसाररूपी स्वप्न टूट जाता है और एक नई ही दुनिया का अनुभव होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों सोते हैं। अज्ञानी जब स्वप्न देखता है तो स्वयं को भूल जाता है। वह दूसरी दुनिया में प्रवेश कर जाता है। जब वह सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में होता है तो स्वप्न खो जाते हैं, उसे किसी का ज्ञान नहीं रहता है। दूसरी ओर ज्ञानी की निद्रा संसारी से भिन्न होती है। वह स्वप्न में भी जागा रहता है। स्वप्न देखते समय उसे यह भान रहता है कि यह सत्य नहीं स्वप्न है। इसी प्रकार सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में भी वह जागा-सा रहता है। इस समय उसका संबंध आत्मा से होता है और वह आनंदित रहता है। योगी जागृत अवस्था में भी बाह्य वस्तुओं से प्रभावित नहीं होता है और इसलिए वह जागा हुआ-सा भी नहीं लगता है। वह तीनों अवस्थाओं में आत्मा का अनुभव करता है और तृप्त रहता है।

ज्ञानी पुरुष की इंद्रियाँ भी अपना-अपना काम करती हैं। वह खाता है, पीता है, सुनता है, स्पर्श करता है, पर उनमें आसक्त नहीं होता है। वह इंद्रियों का उपयोग आवश्यकतापूर्वक करता है। वह अपनी बुद्धि का मालिक होता है। वह आवश्यकता पड़ने पर अहंकार, विनम्रता आदि का प्रयोग भी करता है, पर इनका दास नहीं होता है। वह कर्ता के बजाय साक्षी-भाव से कार्य करता है और ज्ञानी के कर्म सृष्टि के नियमों में बाधा नहीं डालते हैं।

ज्ञानी समत्व बुद्धि वाला होता है और उसकी स्थिति द्वंद्वों से पार हो जाती है। वह अज्ञानी की भाँति एक अति से दूसरी अति की ओर नहीं भटकता है। जिस प्रकार वीणा के तारों से संगीत तब निकलता है जब वे न तो ज्यादा ढीले हों और न ही ज्यादा कसे हुए हों। अज्ञानी अतियों का आनंद लेता है, जबकि ज्ञानी अतियों के बीच संतुलन रखता हुआ एक ही रस्सी पर ध्यान टिकाए चलता है। इसलिए ज्ञानी न तो दुखी होता है और न सुखी, न संगयुक्त होता

है और न विरक्त, वह न मुमुक्षु होता है और न मुक्त। वह अपने आपको श्रेष्ठ भी नहीं मानता और नगण्य भी नहीं। वह हमेशा संतुष्ट रहता है।

जब ज्ञानी आत्मज्ञान प्राप्त करने के कारण समस्थिति को प्राप्त कर लेता है तो वह विक्षेपों को भी सहन कर लेता है। वह समाधि में रहता है, पर अन्य समाधि का अभ्यास करने वालों से भिन्न होता है। वह अन्य उद्यमियों की तरह भाग-दौड़ नहीं करता, पर वह कभी जड़ नहीं होता, हमेशा पूर्ण चैतन्य रहता है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने पांडित्य का अहंकारपूर्ण प्रदर्शन नहीं करता है। वह तर्क-वितर्क में विश्वास न करते हुए स्वाभाविक रूप से अपनी बात प्रस्तुत कर देता है।

मुक्त पुरुष न तो किए गए कर्मों पर प्रसन्न होता है और न ही न किए गए कर्मों पर शोक करता है। अज्ञानी बंधनों से ग्रस्त रहता है और कामना-वासना और अहंकार से पीड़ित रहता है। वह रुग्ण है। दूसरी ओर बंधनों को तोड़ चुका ज्ञानी पुरुष स्वस्थ है, वह किए हुए और करने योग्य कर्मों में स्थित रहता है। सहज भाव धारण करने के कारण हर स्थिति में समान रहता है। अतः किए और अनकिए कर्मों का स्मरण वही रखता है जो तृष्णा से पीड़ित रहता है। ज्ञानी पुरुष अपने किए और अनकिए कर्मों का लेखा-जोखा नहीं रखता है।

मनुष्य अपने अंदर स्थित अहंकार के कारण निंदा की चोट लगने पर क्रुद्ध हो जाता है और प्रशंसा होने पर प्रसन्न हो जाता है। अज्ञानी इनसे बहुत ज्यादा प्रभावित होता है, जबकि ज्ञानी पर निंदा या प्रशंसा का कोई असर नहीं होता है। मुक्त पुरुष मृत्यु के समय भी उद्विग्न नहीं होता है, क्योंकि वह उसे स्वाभाविक गतिविधि मानता है। वह जीवन को सृष्टि का नियम मानते हुए हर्षित भी नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि भागदौड़ वही करता है, जिसे कुछ पाने की इच्छा होती है। जब ज्ञानी परम तत्त्व को पा लेता है तो वह मुक्त हो जाता है और उसकी सारी भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है। पूरी सृष्टि में एकत्व का अनुभव करने वाले ज्ञानी को न तो भीड़-भाड़ वाला नगर भाता है ओर न ही सुनसान वन। उसे महल और झोपड़ी एक जैसी लगती है। वह चुनावरहित हो जाता है।

इसके साथ ही अष्टावक्र ने 100 श्लोकों वाला 'आत्मज्ञान शतक', जो 'शांति शतक' के नाम से प्रसिद्ध है, राजा जनक को सुनाया और सिद्ध किया कि आत्मज्ञान से ही शांति मिल सकती है।

राजा जनक बाल गुरु अष्टावक्र का उपदेश ध्यान से सुन रहे हैं। उन्होंने

www.tantrik-astrologer.in

इस संवाद के प्रारंभिक दौर में ही आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। उन्होंने अपने गुरु द्वारा ली गई परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली है। अपने गुरु का दीक्षांत भाषण भी सुन लिया है। पूरे उपदेश में उन्होंने एक बार भी शंका व्यक्त नहीं की है। उन्होंने अर्जुन की तरह तर्क भी नहीं किया और गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा बनाए रखी है।

दरअसल वे ज्ञान की तलाश में बहुत वर्षों से थे। पात्रता बहुत पहले प्राप्त कर ली थी। उनका अंतःकरण शुद्ध था, इसलिए पूरा का पूरा उपदेश वे अमृत के समान पी गए। अब वे कृतकृत्य हैं।

तत्त्वज्ञान के बाद अष्टावक्र अब राजा जनक को विदा कर रहे हैं। दूसरी ओर राजा जनक अष्टावक्र के इस महान् उपकार के लिए अपना धन्यवाद व्यक्त करना चाहते हैं, पर उनके पास उचित शब्द नहीं हैं। अतः वे अपनी आत्म-स्थिति का वर्णन कर रहे हैं जो उन्हें अपने महान् गुरु से प्राप्त हुई है।

उन्हें लग रहा है कि आत्मज्ञान तो पूर्ण शल्य क्रिया है, जिसमें सभी विजातीय तत्त्व छूट जाते हैं और शुद्ध आत्मज्ञान शेष रहता है। यह लगभग वैसा ही है, जैसे भट्टी में गलाकर और अनेक प्रक्रियाओं द्वारा शुद्ध स्वर्ण निकाल लिया जाता है और अन्य विकार रह जाते हैं। वैसे मृत्यु के समय सिर्फ शरीर जाता है, पर बाकी सब विकार साथ रह जाते हैं और पुनर्जन्म का कारण बनते हैं, अतः आत्मज्ञान मृत्यु से भी परे की चीज है। मनुष्य के विचार उसके सुख-दुःख सहित अनेक द्वंद्वों के कारण होते हैं। राजा जनक कहते हैं कि हे गुरुवर, मैंने आपके तत्त्वज्ञान रूपी संसी की सहायता से हृदय और उदर से अनेक प्रकार के विचार रूपी बाण निकाल दिए हैं। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। इन विचारों के कारण ही चित्त में आत्मा का बिंब नहीं दिखाई देता है।

राजा जनक आगे कहते हैं कि आत्मा हमारा स्वभाव है। वही सत्य है, आनंद है, उसे प्राप्त कर लेना ही सबसे बड़ी महिमा है। महामहिम आत्मज्ञानी के समक्ष शेष सारी महिमाएँ झूठी हैं। अपनी महिमा में स्थित होने के बाद अब मेरी महिमा कोई नहीं छीन सकता है। अपनी महिमा प्राप्त करने के लिए लोग धर्म, अर्थ, काम और विवेक का प्रयोग करते हैं। लोग ध्यान, धारणा, समाधि, जप, पूजा, शास्त्र, गुरु और सत्संग आदि का सहारा लेते हैं। पर जब पूर्ण उपलब्धि प्राप्त हो जाए तो इनका कोई उपयोग नहीं रह जाता है। यह वैसा ही है, जैसे नदी के पार उतरने के बाद नौका का क्या प्रयोजन है? उसके बाद नौका को साथ ढोना मूढ़ता है। इसलिए आत्मज्ञानी का द्वैतभाव समाप्त हो जाता

है। द्वैत समाप्त होते ही अद्वैत की चर्चा व्यर्थ हो जाती है। अतः अब जनक के लिए धर्म, अर्थ, काम, विवेक की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके लिए द्वैत और अद्वैत की चर्चा भी निरर्थक है।

अज्ञानी पुरुष स्थान और समय के बंधनों से बँधा होता है। आत्मज्ञानी इस परिधि से बाहर होता है। उसकी आत्मा नित्य, शाश्वत, अजन्मा, निराकार, निर्लिप्त होती है। उसके लिए भूत-भविष्य, वर्तमान का कोई अर्थ नहीं होता है। आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती है, वह पहले भी थी, आज भी है और आगे भी होगी। आत्मा को जानने वाला ज्ञानी ब्रह्म को भी जान लेता है और ब्रह्मवत् हो जाता है। आत्मा की महिमा ही उसकी महिमा हो जाती है।

आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि नाम देने से ही अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ पैदा हो गई हैं। ऐसा लगता है कि यह कोई वस्तु है या पदार्थ है; जिसे देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, पाया जा सकता है। पर इन्हें न तो जाना जा सकता है और न ही देखा जा सकता है और न ही पाया जा सकता है। यह लगभग वैसा ही है, जैसे, 'सत्य कहा नहीं जा सकता है, और जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं है। सत्य को शब्दों में उतारते ही वह असत्य हो जाता है।' इसी प्रकार आत्मज्ञानी को सिर्फ अनुभव होता है। उससे आत्मा का अनुमान लगाया जा सकता है। राजा जनक जिस स्थिति में पहुँच गए है, वहाँ आत्मा और अनात्मा का भेद समाप्त हो जाता है। वहाँ सिर्फ आनंद का बोध होता है। वहाँ पहुँचकर शुभ-अशुभ, चिंता-अचिंता का ख्याल नहीं रहता है। केवल चैतन्य शेष रह जाता है। यही उसकी महिमा है।

राजा जनक कहते हैं कि जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ये अवस्थाएँ शरीर, मन और बुद्धि की हैं। चेतना इनसे पार की अवस्था है। ज्ञानी इन सब अवस्थाओं से पार हो जाता है। मुझे इन अवस्थाओं का अनुभव नहीं होता है।

राजा जनक आगे कहते हैं कि अब मैं आत्मा की महिमा में स्थित हो गया हूँ। चूँकि आत्मा दूर भी है, समीप भी है, बाहर भी है, अंदर भी है। आत्मा स्थूल भी है और सूक्ष्म भी है। इस सृष्टि में सूक्ष्म ही स्थूल का कारण है। स्थूल भी सूक्ष्म में परिवर्तित हो जाता है। ऊर्जा और पदार्थ भिन्न नहीं है। अतः मुझे दूर-समीप, बाहर-भीतर, स्थूल-सूक्ष्म एक से लगते हैं।

राजा जनक आगे कहते हैं कि आत्मा का न तो जन्म होता है और न मृत्यु। अतः अपनी महिमा में स्थित हो जाने के बाद मुझे न तो जीवन प्रभावित करता है और न मृत्यु। लोक और लौकिक व्यवहार शरीर से ही संबंधित होता

है। लय और समाधि मन से संबोधित होती है। मुझ आत्मज्ञानी के लिए लोक, लौकिक व्यवहार, लय, समाधि आदि का कोई उपयोग नहीं है।

मुझ जैसे आत्मज्ञानी के लिए धर्म, अर्थ, काम आदि की कोई अपेक्षा नहीं रह गई है। इसी प्रकार चूँकि अब मुझे कुछ भी पाना शेष नहीं बचा है, अतः योग और विज्ञान का भी कोई प्रयोजन शेष नहीं है।

राजा जनक आत्मज्ञान के पश्चात् द्वंद्वों के समाप्त होने का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा में स्थित होने के बाद अब मैं सभी भूत विकारों से मुक्त हो गया हूँ। मेरा यह आत्मस्वरूप निरंजन है, निर्दोष है, अद्वैत है, शुद्ध है। इसमें भिन्नता बिलकुल नहीं है। ज्ञानप्राप्ति से पूर्व मेरे चित्त में सभी आकारों और संस्कारों के चित्र बनते थे, पर दर्पण की भाँति इस आत्मा में चित्र नहीं बनते। यह साक्षी मात्र है। हमेशा निर्लिप्त रहती है। मेरे स्वरूप में पंचभूत, देह, इंद्रियों, मन आदि का कोई स्थान नहीं है। इसमें शून्य भी नहीं है और नैराश्य भी नहीं है।

राजा जनक आगे कहते हैं कि मैं द्वंद्वरहित हो गया हूँ। अब मुझे शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्म-विज्ञान भी मेरे लिए अनावश्यक है, क्योंकि अध्ययन से जो जाना जाता है वह बौद्धिक होता है और मैं तो अपने आत्मस्वरूप में स्थित हूँ, अतः मुझे शास्त्र और विज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है। जब मैंने विषय छोड़ दिए तो मेरे लिए विषयरहित मन की कोई कल्पना नहीं है। चूँकि तृप्ति का अनुभव अतृप्त को होता है, अतः तृप्ति भी निरर्थक है। मेरे मन में यह विचार भी नहीं उठता है कि मुझे तृष्णा का अभाव हो गया है।

आत्मज्ञानी की स्थिति अनिर्वचनीय होती है। उसे अभिव्यक्त करना कठिन होता है। जनक उसका वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि आत्मा ही वास्तविक निजस्वरूप है और अन्य सभी स्वरूप धारण किए हुए हैं। ये भ्रम के कारण सत्य लगते हैं। भ्रम हटते ही निज आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है। पर उसकी भी रूपिता नहीं है। दरअसल आत्मा का ऐसा रूप नहीं है जिसे देखा जा सके या जिसका वर्णन किया जा सके। आत्मा में विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् संसार भी नहीं है। ये दोनों भी भ्रम ही हैं। आत्मा में मैं या यह का भेद भी नहीं है, क्योंकि अहंकार जिसके कारण मैं और उसके बाद 'यह' की उत्पत्ति हुई है, नष्ट हो जाता है। आत्मा का कोई बंधन नहीं है और इसलिए मोक्ष भी नहीं है।

राजा जनक कहते हैं कि मैं आत्मज्ञानी अब अहंकाररहित शुद्ध चैतन्य

www.tantrik-astrologer.in

मात्र हूँ जो न कर्ता है और न भोक्ता। इसलिए मेरे लिए प्रारब्ध कर्मों का भी अस्तित्व नहीं रहा। इन्हें भोगनेवाला अहंकार नहीं रहा और आत्मा भोगती नहीं। फिर जीवन्मुक्त भी नहीं हूँ। आत्मज्ञानी जब अहंकार को बचा लेता है तभी जीवन्मुक्ति और विदेह कैवल्य की बात उठती है। राजा जनक इन सभी के पार केवल आत्मा में स्थिर हो गए हैं जो परमावस्था है। राजा जनक में आम व्यक्ति की अपूर्व क्षमता है।

मनुष्य में सक्रियता तभी आती है जब वह फल की आकांक्षा से कार्य करता है। दूसरी ओर आत्मज्ञानी मन तथा अहंकार से रहित होकर सिर्फ साक्षी भाव से जीता है। उसमें न तो कर्तापन होता है और न ही भोक्तापन, वह कर्म का त्याग करके आलसी भी नहीं होता है। वह कर्म करते समय इससे होने वाले लाभ-हानि का लेखा-जोखा नहीं करता है।

राजा जनक आगे कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ जो अद्वयस्वरूप है। दरअसल सृष्टि में दो हैं ही नहीं। आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, प्रकृति-पुरुष आदि का विभाजन सृष्टि में कहीं नहीं है। सभी उस एक आत्मा का विस्तार हैं। मुझे अज्ञान के कारण जो भिन्नताएँ प्रतीत हो रही थीं, वे अब समाप्त हो गई हैं। अब मेरा कोई लोक नहीं है, क्योंकि मैं तो हर जगह हूँ। मेरा कोई निश्चित स्थान नहीं है। अब मेरी कोई मुमुक्षा भी नहीं है, क्योंकि मैं जहाँ हूँ वहीं मोक्ष है। योगी मार्ग पर चल रहा है, उसे अभी अपना लक्ष्य प्राप्त करना है। वह साधक है। ज्ञानवान वह है जिसे ज्ञान हो गया है, जबकि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ। मैं न बद्ध हूँ और न मुक्त।

विभिन्न विद्वान् सृष्टि और प्रलय के संबंध में तरह-तरह के विचार व्यक्त करते हैं। कुछ कहते हैं सृष्टि अनादि है। इसे किसी ने नहीं बनाया और यह कभी नष्ट नहीं होगी। कुछ कहते हैं परमात्मा ने यह सृष्टि एक निश्चित अवधि में बनाई और वही इसका संचालन कर रहा है और एक दिन संहार भी करेगा। कुछ कहते हैं कि सृष्टि परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। एक ही ब्रह्म विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। फैलना और विस्तृत होना इसका गुण है। यह एक संकल्प के साथ हो रहा है। एक सीमा तक इसका विस्तार होगा और फिर यह सिकुड़कर ब्रह्म में विलीन हो जाएगी। यही प्रलय की स्थिति होगी। पदार्थ ऊर्जा का दृश्य रूप है और ऊर्जा पदार्थ का अदृश्य रूप है तथा ये दोनों परिवर्तनशील हैं। राजा जनक जो सद्गुरु के कारण केवल बोध मात्र से इस अद्वयस्वरूप को प्राप्त हुए हैं, कहते हैं कि संपूर्ण सृष्टि इस आत्मा का ही विस्तार है। जिस

प्रकार ऊर्जा नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा की न कोई सृष्टि है और न ही संहार। जिसने आत्मा को पा लिया, उसके लिए साध्य, साधन, साधक और सिद्धि सब व्यर्थ हैं। दरअसल इस सिद्धांत के अनुसार स्रष्टा और सृष्टि दो (अलग-अलग) नहीं हैं, एक ही हैं। परमात्मा एक विराट् ऊर्जा का केंद्र हैं और सृष्टि उसी से पदार्थ का रूप प्राप्त करती है।

राजा जनक अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि मैंने आत्मा को कहीं से पाया नहीं है। पहले अज्ञान के कारण मैं अपने आप को शरीर, मन, इंद्रिय आदि समझता और आत्मा को अलग मानता था। अगर आत्मा भिन्न होती और मैं पा लेता तो मुझे प्रमाण देना होता। व्याख्या करनी होती। पर मैं प्रमाता (बोधयुक्त) नहीं हूँ, क्योंकि बोध मुझसे भिन्न नहीं है। मैं प्रमा (बोध) भी नहीं हूँ। मैं तो आत्मा हूँ, इसलिए प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि सत्य तो साक्षात् है। मुझमें अब किंचन, अकिंचन का भाव भी नहीं है, क्योंकि आत्मा होने से मैं सब कुछ हूँ और विमल स्वरूप हूँ।

हमारा चित्त वृत्तियाँ पैदा करता है और सभी विक्षेप चित्त के कारण हैं। इन विक्षेपों को दूर करने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता पड़ती है। आत्मज्ञानी के सभी विक्षेप समाप्त हो जाते हैं वह आत्मा में स्थित होकर क्रियारहित हो जाता है। उसे न एकाग्रता की आवश्यकता होती है और न ज्ञान की। उसे न मूढ़ता होती है और न हर्ष-विषाद, क्योंकि इससे भी वह दूर रहता है।

"आत्मा सर्वदा निर्विकार है। व्यवहार और परमार्थ मेरे में नहीं है, क्योंकि ये मन के धर्म हैं। इसी प्रकार सुख और दुःख भी मन के धर्म हैं और मैं उनसे परे हूँ।"

"आत्मज्ञान की उपलब्धि से सभी भेद गिर जाते और एक चैतन्य शेष रह जाता है। माया, संवाद, प्रीति, विरति और जीव, ब्रह्म आदि भेद अज्ञान के कारण हैं और अब मुझे एक ही तत्त्व दिखाई देता है और अन्य वस्तुएँ इसी का विस्तार दिखाई देती हैं।"

राजा जनक कहते हैं कि आत्मा सदैव कूटस्थ (स्थिर) है। वह अखंड है। उसका विभाजन नहीं किया जा सकता है। उसे उपलब्ध हो जाना ही परम स्वास्थ्य है। इसीलिए ज्ञानी ही स्वस्थ है और बाकी रुग्ण हैं। आत्मज्ञानी में न कोई प्रवृत्ति होती है और न निवृत्ति। उसके लिए बंधन कुछ नहीं होता है और मुक्ति होती है।

www.tantrik-astrologer.in

जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान नहीं प्राप्त होता है वह उपाधि वाला होता है। वह राजा, मंत्री आदि कहलाता है। आत्मा उपाधिरहित होती है—वह जड़ है या चैतन्य, प्रकृति है या पुरुष या परमात्मा, यह कहना कठिन है। वास्तव में वही सब कुछ है या कुछ भी नहीं है। वह दिखाई नहीं देता, पर फिर भी रहता है। वह क्रियारहित है, पर फिर भी सभी कुछ उसी से हो रहा है। वह शिवस्वरूप है, कल्याणकारी। राजा जनक कहते हैं कि आत्मस्वरूप को पा लेने के बाद कोई उपदेश आवश्यक नहीं रह जाता है। जहाँ एक ओर उपदेश अज्ञानी को दिए जाते हैं वहीं शास्त्र भी अज्ञानी के लिए ही होते हैं। ज्ञानी तो स्वयं शास्त्र है। उसकी वाणी ही शास्त्र है जो जीवंत है। पुस्तक रूपी शास्त्र जीवंत नहीं है। ज्ञानी स्वयं गुरु है। वह अब शिष्य नहीं रहा, उसे अब पुरुषार्थ की आवश्यकता भी नहीं है।

अज्ञानी कहते हैं—यह संसार है, माया है, ब्रह्म है, जीव है आदि। दूसरे प्रकार के अज्ञानी कहते हैं कि सृष्टि, जीव आदि सब माया है, ब्रह्म ही सत्य है। ज्ञानी 'है और नहीं है' के चक्कर में नहीं पड़ता है, क्योंकि जानने के बाद उसे सबकुछ आत्मवत् लगता है। ईश्वर एक है, जीव अलग है, सभी आत्माएँ ईश्वर हैं, ईश्वर अनेक हैं, क्योंकि आत्माएँ अनेक हैं, ये सब विचार मन के कारण उठते हैं। आत्मज्ञानी में विचारों की तरंगें उठती ही नहीं हैं। वह शांत हो जाता है। वह व्याख्या करने के चक्कर में नहीं पड़ता और परम तत्त्व में विश्राम करता है। यही ज्ञान की अंतिम अवस्था है और यही अंतिम सिद्धि है।

ऐसा कहते हुए महाज्ञानी राजा जनक भूमि पर बैठ गए। अष्टावक्र भी उनके पास ही बैठ गए। विद्वानों का समूह जो अष्टावक्र—जनक महासंवाद सुन रहा था वह भी बैठा रहा।

क्षण बीते, घड़ियाँ बीतीं, दिन बीत गया। अगला दिन भी निकल गया। कोई टस से मस नहीं हुआ। परम ज्ञान के बाद सभी शेष संसार को भूल गए।

उधर राजमहल में कोलाहल मच गया है। सभी लोग महाराज की चिंता करने लगे है। हालाँकि अध्यात्म प्रेमी राजा जनक कई बार संन्यास लेने का प्रयास कर चुके थे। वे अकसर ऋषियों, मुनियों, विद्वानों के साथ लंबा सत्संग करते रहे हैं, पर इस बार की घटना अद्भुत है। राजा एक बालक के उपदेश सुनकर सबकुछ भूलकर चुपचाप बैठे हैं। इतने विद्वान्—जो तरह-तरह की विचारधाराओं से प्रभावित हैं और तर्क में प्रवीण हैं और हर वक्तव्य को तर्क की कसौटी पर कसते हैं और बिना बहस के मानते नहीं हैं—भी चुपचाप

www.tantrik-astrologer.in

बैठे हैं।

अनेक राजकर्मचारी उस स्थान पर भेजे गए, पर किसी की भी हिम्मत राजा से कुछ कहने की नहीं हुई। और तो और वह घोड़ा जिस पर राजा ने सवार होने के लिए एक पाँवड़े पर पैर रखा था, वह भी चुपचाप खड़ा है। वह चंचल पशु भी खाना-पीना, कूदना, हिनहिनाना भूल गया। राजकर्मचारी दृश्य का ब्यौरा तो सुना जाते पर उसके आगे कुछ करने का साहस उनका नहीं है। अब महारानी ने महामंत्री को बुलाया और कहा, "हे विद्वान्, आप वरिष्ठ हैं अनुभवी हैं। इस अद्भुत घटना के बाद सभी चिंतित हैं। अगर ऐसा ही चलता रहा तो क्या होगा? उस बालक विप्र ने अपने उपदेश में ऐसा क्या कह दिया कि राजा और समस्त विद्वत्तसमाज दीन-दुनिया के अलावा अपने आपको भी भूल गया? इस सम्मोहन से मुक्ति कैसे होगी? आप अपने अनुभव और कुशलता का लाभ उठाकर कोई उपाय करें, ताकि स्थिति सामान्य हो सके।"

महामंत्री हाथ जोड़कर महारानी को समझा रहे हैं, "हे महारानी, यह सम्मोहन नहीं है। राजा जनक और विद्वत्तसमाज ने आत्मज्ञान का उपदेश सुना है। उस बालक विप्र ने अपनी अद्भुत वाणी से जो ज्ञान दिया है वह ज्ञान की पराकाष्ठा है और अब इन्हें और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद वे अपना पिछला सब कुछ भूल गए हैं और इस कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गई है। मैं स्वयं विचलित हूँ, क्योंकि महाराजा द्वारा राजकाज छोड़ देने से अनेक प्रकार की समस्याएँ खड़ी हो गई हैं। अनेक निर्णय लेने हेतु महाराज की अनुमति के पश्चात् ही संभव होंगे। यदि कुछ देर यह स्थिति और चली तो अराजकता फैल जाएगी। आप घबराएँ नहीं। मैं भी प्रयास करता हूँ। कोई न कोई हल निकल ही आएगा।"

इतने आश्वासन के बाद भी महारानी की चिंता दूर नहीं हुई और वे महामंत्री के समक्ष शीघ्र जाने और महाराज को तंद्रा से निकालने का निवेदन करने लगीं। महामंत्री द्वारा बार-बार धैर्य दिलाने पर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ और उन्होंने कह दिया, "हे महामंत्री, यदि आप जाने में संकोच कर रहे हैं तो आप यहीं बैठिए और मैं महाराज को अपना कर्तव्य याद दिलाती हूँ।"

महारानी की बात सुनकर महामंत्री लज्जित अनुभव करने लगे। उन्होंने सिर झुकाकर महारानी से निवेदन किया, "हे महारानी, आप मेरी बात को अन्यथा न लें। मैं आपकी चिंता समझ रहा हूँ। मैं शीघ्र ही महाराज के पास जाता हूँ और उनसे निवेदन करता हूँ कि वे अपनी इस विचित्र समाधि से जागें

और राजकाज का संचालन करें।" यह कहते हुए महामंत्री उठ खड़े हुए और यज्ञमंडप की ओर चल दिए।

विद्वान् महामंत्री अनेक दुविधाओं में डूबे हैं। वे यज्ञमंडप की ओर जा रहे हैं, पर उनका मन कहीं और है। जिस दिन अष्टावक्र ने राजा जनक को आत्मज्ञान देने की बात कही, वे वहीं थे। वे अपने आपको सौभाग्यशाली समझ रहे थे, क्योंकि लगे हाथों उन्हें भी अष्टावक्र का उपदेश सुनने का अवसर मिल रहा था। पर दुर्भाग्यवश उन्हें राजकाज सँभालने का दायित्व दे दिया गया। वे महाराज के आदेश की अवहेलना करने का साहस न कर सके और इस महान् सुख से वंचित रह गए, जबकि विद्वानों की बड़ी संख्या ने दूर से ही सही, पर उस उपदेश को सुना तो है। आज वे सब भी उसी अवस्था में हैं जिस अवस्था में महाराज हैं। वे सब निश्चय ही धन्य हैं।

पिछले दिनों में महामंत्री अपने आपको समझाते थे कि चलो फिर कभी अवसर मिलेगा, पर अब उनसे बर्दाश्त नहीं हो रहा है। इतनी बड़ी संख्या में विद्वानों को समाधि से जगाने का दायित्व उन्हें पाप जैसा लग रहा है। वे सभी आत्मसुख की अनुभूति कर रहे होंगे। इन विद्वानों ने महाराज की विद्वत्तसभा में वर्षों से लगातार भाग लिया है। इस सत्संग का लाभ उन्हें अब मिल रहा है।

सत्संग की महिमा की याद करते हुए उन्हें एक पुराना प्रसंग याद आ गया। एक बार मुनि विश्वामित्र और मुनि वसिष्ठ में विवाद हो गया। विश्वामित्र कह रहे थे कि तप की महिमा ज्यादा है। वसिष्ठ कह रहे थे कि सत्संग की महिमा अधिक है। विवाद बढ़ा और दोनों निर्णय के लिए पाताल लोक में भगवान् शेषनाग के समक्ष पहुँचे।

दोनों का वक्तव्य सुनकर शेषनाग ने कहा, "हे मुनियो, मेरे सिर पर पृथ्वी का बोझ है। इस भार की स्थिति में मुझे निर्णय लेने में कष्ट होगा और निर्णय अनुचित भी हो सकता है। बेहतर होगा, आप अपने तप या सत्संग के प्रभाव से पृथ्वी का भार अपने-अपने शीश पर एक-एक करके लें तो मैं निर्णय ले पाऊँगा।"

दोनों को यह बात पसंद आ गई। हठी विश्वामित्र ने पहले पृथ्वी को उठाने की ठानी। उन्होंने कहा कि अपनी दस हजार वर्षों की तपस्या के फल से मैं पहले पृथ्वी उठाऊँगा। ऐसा कहते हुए उन्होंने पृथ्वी को गेंद के समान उठाकर अपने शीश पर रख लिया, पर चंद ही पलों में पृथ्वी डगमगाने लगी। विश्वामित्र के तप का फल खर्च होते-होते समाप्त होने लगा और पृथ्वी पर हाहाकार मच

गया। भवन टूटने लगे। पेड़ उखड़ने लगे। पर्वतों से बड़े-बड़े शिलाखंड तेजी से गिरने लगे। सृष्टि का संतुलन बिगड़ने लगा। त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश विचलित हो गए।

यह देखकर शेषनाग ने मुस्कराते हुए मुनि वसिष्ठ की ओर इशारा किया। मुनि वसिष्ठ ने अपने आधे पल के सत्संग के प्रतिफल से पृथ्वी को उठाकर अपने सिर पर रख लिया। चंद पलों में ही सारा हाहाकार शांत हो गया और रत्तीभर भी कंपन शेष नहीं रहा।

सचमुच राजा जनक और उनकी विद्वत्तसभा के सभासद धन्य हैं, जिन्होंने वर्षों अध्यात्म पर सत्संग किया। राजा जनक तो पीढ़ियों से सत्संग के लिए प्रसिद्ध हैं। आज उन्हें इसका महान् फल मिला है।

यह सोचते-सोचते वे उस खुले मैदान में पहुँचे जहाँ सभी लोग समाधि जैसी अवस्था में हैं। सभी की आँखें खुली हैं, पर उन्हें शायद संसार नहीं, कुछ और दिखाई दे रहा है। उन्हें न भूख लग रही है न प्यास। उनके चेहरे खिले हुए हैं। शायद मन ही मन प्रसन्न हो रहे हैं। महामंत्री सोचने लगे कि उन्होंने अनेक लोगों को देखा है जो कुछ पाकर प्रसन्न होते हैं। उन्होंने ऐसे लोगों को भी देखा है जो अप्रत्याशित धन और अन्य प्रकार का सुख पा जाते हैं, पर ऐसा प्रसन्नता का भाव किसी के मुखमंडल पर नहीं देखा। सचमुच उन्हें परम सुख मिल गया है।

महामंत्री ने चारों ओर चक्कर लगाया। पीछे-पीछे उनके अनुचर भी हैं। कदमों की आहट का किसी पर कोई असर नहीं पड़ रहा है। सभी खोए हुए हैं। अंत में महामंत्री राजा जनक के सम्मुख जा खड़े हुए और प्रार्थना करने लगे।

"हे राजा जनक, आप महान् हैं। आप विद्वान् हैं। आपने वर्षों से आत्मज्ञान हेतु सत्संग किया है। आप धन्य हैं कि आपने अष्टावक्र जैसे महान् गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है।

"हे महाराज, आप पिछले कई दिनों से इस कार्य में व्यस्त रहे। इस कारण से राजकार्य में विघ्न खड़े हो रहे हैं। उनसे निपटने के लिए मुझे आपसे परामर्श और आदेश लेना है। यदि उसमें विलंब होगा तो ये छोटी-छोटी समस्याएँ विकराल रूप धारण कर लेंगी और प्रजा परेशान हो जाएगी।

"हे महाराज, मैं जानता हूँ कि आप आत्मसुख की अनुभूति कर रहे हैं और मैं अभागा आपका ध्यान-भंग करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मैं उसी प्रकार दंड का भागी हूँ, जैसे कामदेव ने शिव की समाधि भंग करने पर दंड पाया था।

www.tantrik-astrologer.in

"हे महाराज, मैं यह जानते हुए भी इस धृष्टता को किए जा रहा हूँ। क्या करूँ, यह मेरे पिछले पापों का फल है जो मुझसे ऐसा अनर्थ करा रहा है।" ऐसा कहते हुए महामंत्री राजा जनक के चरणों में झुक गए।

अब धीरे-धीरे सभी की तंद्रा टूटने लगी। वे देख रहे हैं कि महामंत्री बार-बार निवेदन कर रहे हैं, पर महाराज की समाधि टूटने का नाम ही नहीं ले रही है।

अब अष्टावक्र, जो यह सब शांत भाव से देख रहे थे, ने सभी से कहा कि वे एक स्वर से महामंत्री का साथ दें।

सभी ने महामंत्री के स्वर में स्वर मिलाया और कहने लगे, "हे महाराज, आप जागिए। आपकी प्रजा त्रस्त है। उठिए, राजकार्य चलाइए।"

थोड़ी देर में महाराज की समाधि टूटी। वे सभी की प्रार्थना सुनकर एक किस्म से अचकचा गए। दुबारा-तिबारा सुनने के बाद बोल उठे, "कौन महाराज, कैसी प्रजा, कैसा राजकार्य? मैं तो अब सूक्ष्म हूँ। मुझे इस स्थूल संसार से क्या प्रयोजन? मैं आपका महाराज नहीं और न ही आप मेरी प्रजा हैं। मैं और आप तो एक ही आत्मा के स्वरूप हैं। आप मुझे भिन्न क्यों देख रहे हैं। मैं तो आपको अपने समान ही देख रहा हूँ।"

सभी लोग यह सुनकर चौंक पड़े। यह देखकर अष्टावक्र मुस्करा रहे हैं।

अब अष्टावक्र ने फिर बोलना प्रारंभ किया, "हे वत्स, तुम इस समय अपनी आत्मा में स्थित हो, इसलिए ऐसा कह रहे हो। पर तुम इस स्थूल संसार में भी हो। इस राज्य के महाराजा हो। तुम्हारे इस राज्य के प्रति कुछ दायित्व भी हैं। तुम्हारा परिवार है जो चिंतित हो रहा है। तुम्हारी प्रजा है जो तुम पर आश्रित है और इस समय त्रस्त है।

"अतः हे राजा जनक, उठो और अपने सांसारिक कर्मों को सहज भाव से करो। पर कभी इनमें लिप्त नहीं होना, अन्यथा आत्मसुख से वंचित हो जाओगे।"

राजा जनक धीरे-धीरे उठे और अष्टावक्र से अनुमति लेकर अनमने भाव से राजमहल की ओर चल दिए। लगभग ऐसी ही स्थिति है। जैसे कोई बच्चा जो खेल में मस्त था, अपनी माता के डाँटने पर चुपचाप घर को चल देता है।

महामंत्री ने अष्टावक्र को प्रणाम किया और कहा कि आप भी अतिथिगृह की ओर चलें। अष्टावक्र ने अपने पिता कहोड़ और मामा श्वेतकेतु की ओर देखा। सभी ने ढलते सूर्य की ओर देखा। उन्हें लगा कि अब आज का दिन

समाप्त हो चला है। आगे का कार्यक्रम कल ही बन पाएगा। यह सोचकर वे सभी अतिथिगृह की ओर चल दिए।

उधर पूरा घटनाक्रम देखकर आनंद ले रहे विद्वत्तजन भी अपने-अपने निवास को चल दिए। उधर आसमान में दिन-भर भोजन की तलाश करते और भोजन का आनंद लेते तृप्त हुए पंछी अपने-अपने नीड़ की ओर जा रहे हैं। हरी-भरी घास का आनंद लेकर तृप्त गौएँ अपनी गौशाला में वापस लौट रही हैं। इन विद्वत्तजनों में तृप्ति का एक अद्भुत भाव है। उन्हें ऐसा लग रहा है कि अब उन्हें कुछ नहीं चाहिए। वे क्यों घर वापस लौट रहे हैं? कहीं घर जाकर घरेलू समस्याओं से जूझना पड़ा तो यह परम सुख कम हो जाएगा।

महामंत्री अष्टावक्र को अतिथिगृह छोड़कर अपने निवास की ओर चल दिए। उन्हें समझ में नहीं आ रहा है कि उन्होंने जो किया वह उचित था या अनुचित ?

www.tantrik-astrologer.in